दत्तात्रेयकृत

अवधूत गीता

नन्द लाल दशोरा

रणधीर प्रकाशन
हरिद्वार

दत्तात्रेय कृत
अवधूत गीता

अ + व + धू + त = अवधूत

अ = **आशा** रहित, **आदि** से निर्मल तथा जो आनन्द में मग्न रहता है।

व = **वासना** का त्याग, **वक्तव्य** दोष रहित तथा जो वर्तमान में ही रहता है।

धू = **धूलिधूसिरत** अंग (अर्थात विलासिता एवं शृंगार रहित) **धूतचित्त**, (निर्मल जिसका चित्त है) तथा **धारणा-ध्यान** से जो मुक्त है।

त = **तत्व चिन्ता** में निमग्न, **चिन्ता एवं चेष्टा** से रहित, जिसने तम रूपी अहंकार का त्याग किया है।

गुण हीरे के सदृश है जिसे विष्ठा में पड़े होने पर भी कोई व्यक्ति उसे नहीं छोड़ता, उसी प्रकार अपवित्र व्यक्तियों में जो गुण हैं उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए। (२/१)

घड़े के भीतर का आकाश और बाहर के आकाश में भिन्नता नहीं है किन्तु यह भिन्नता घड़े के कारण होती है कि दोनों भिन्न हैं। जब ब्रह्मवेत्ता योगी का यह शरीर नष्ट हो जाता है तो उसके भीतर का चेतन तत्व उस विश्वात्मा में लीन हो जाता है। (२/२५)

रणधीर प्रकाशन की उत्कृष्ट प्रस्तुति

गुरु दत्तात्रेय की अमर कृति

अवधूत गीता

(अद्वैत का अद्वितीय वर्णन और वेदान्त का
सार रूप अनुकरणीय ग्रन्थ)

अनुवाद और व्याख्या :
श्री नन्दलाल दशोरा

मूल्य : ७५.००

रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार

प्रकाशक : **रणधीर प्रकाशन**
रेलवे रोड (आरती होटल के पीछे)
हरिद्वार (उ.प्र.) पिन : २४९४०१
फोन : (०१३३) ४२६२९७, ४२६१९५

वितरक : **रणधीर बुक सेल्स**
रेलवे रोड, हरिद्वार (उ.प्र.)
फोन : ४२८५१०

मुख्य विक्रेता : **१. गगनदीप पुस्तक भण्डार**
एस.एन. नगर, (निकट हरमिलाप भवन)
हरिद्वार (उ.प्र.)

२. सचदेवा बुक डिपो
५, गोविन्दपुरी, हरिद्वार (उ.प्र.)

व्याख्याकार : **श्री नन्दलाल दशोरा**

संस्करण : **द्वितीय, १९९९**

शब्द सज्जा : **जे के प्रिन्टोग्राफर्स**, दिल्ली-११०००६

मुद्रक : **राजा ऑफसेट प्रिंटर्स**
विकास मार्ग, दिल्ली-११००९२

© रणधीर प्रकाशन

ISBN : 81-86955-73-9

AWDHOOT GITA
Hindi Translation By : Nand Lal Dashora
Published By : Randhir Prakashan, Hardwar (INDIA)

भूमिका

भारतीय अध्यात्म में वेदान्त का सर्वोपरि स्थान है, जिसका सार अद्वैत है। भारत के शीर्ष अध्यात्म ग्रन्थों—वेद, उपनिषद्, योग वाशिष्ठ, अष्टावक्र गीता, भगवद् गीता, ब्रह्मसूत्र आदि में इसी का विवेचन हुआ है। दुनिया के श्रेष्ठतम ज्ञानियों, लाओत्से, सूफी, थियोसोफी आदि ने भी इसी ज्ञान को प्रामाणिक माना है।

इस दर्शन के अनुसार यह सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत एक ही मूल तत्व ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र है। यह ब्रह्म वैज्ञानिकों की ऊर्जा की भाँति जड़ नहीं बल्कि चेतन है। उस चेतन से ही जड़ प्रकृति की अभिव्यक्ति हुई है तथा यह समस्त दृश्य जगत इस जड़ एवं चेतन शक्ति का विस्तार मात्र है इसलिए यह सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है बल्कि उसी के भिन्न-भिन्न रूप मात्र हैं। ये सभी दृश्य पदार्थ स्थूल होने से प्रत्यक्ष हैं जिससे मनुष्य इन्हीं को अज्ञानवश सत्य समझ कर इन्हीं के भोग में व्यस्त रहता है जबकि वह चेतन तत्व सूक्ष्म होने से मन एवं इन्द्रियों का विषय नहीं है जिससे अज्ञानी उसको जानने से वंचित रहे हैं। इसी अज्ञानता के कारण मनुष्य ने अपनी-अपनी बुद्धि से सृष्टि को जानने का प्रयत्न किया जिससे वे इस परम सत्य को उपलब्ध न हो सके। इसी कारण संसार में विभिन्न धर्मों का जन्म हुआ। ये ही धर्म अपनी धार्मिक संकीर्णता के कारण विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हुए तथा अनेक मत एवं पंथों का निर्माण किया जिससे यह संसार धर्म के नाम पर विभिन्न गुटों में बँट कर रह गया। इन अज्ञानियों के ही कारण यह सम्पूर्ण जगत खण्ड-खण्ड में विभाजित होकर रह

गया। सृष्टि का समग्र रूप जैसा वेदान्त ने प्रतिपादित किया वह सामने न आ सका। इन्हीं अज्ञानी गुरुओं ने छः अन्धों की भाँति पूर्ण हाथी को न जानकर उसके एक-एक अंग की व्याख्या कर दी तथा उनके अज्ञानी शिष्य उन्हीं की वाणी को सत्य मानकर केवल उसी को सत्य कहने का दुराग्रह कर संसार को भ्रमित करते रहे जिससे यह संसार अज्ञान में ही भटकता रहा, सृष्टि का सत्य स्वरूप प्रकट नहीं हो सका जो संसार के लिए अभिशाप बन गया।

यह वैसा ही है जैसे 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी।' जो देखा गया है उसे कहा नहीं जा सकता तथा जो कहा गया है वह सत्य नहीं है। लाओत्से इस ज्ञान को उपलब्ध हुए। उन्होंने भी कहा कि, "सत्य को कहा नहीं जा सकता तथा जो कहा जा सकता है वह सत्य नहीं है।" सत्य की अभिव्यक्ति असम्भव है। सत्य स्वरूप को न जानने के कारण ही आज दुनिया में धर्म के नाम पर अपनी विकृत मानसिकता का ही पोषण हो रहा है जो अमृत नहीं विष का कार्य ही कर रहा है। अन्धों की दुनिया में आँख वाले की बात कौन सुनता है। अज्ञान में भटकता हुआ व्यक्ति ज्ञान की गरिमा को कैसे स्वीकार कर सकता है।

इस सम्पूर्ण सृष्टि का एक ही सत्य है। दो सत्य कभी होते नहीं और वह सत्य है—यह सृष्टि अखण्ड है, एक ही है, समग्र है। इसमें सर्वत्र एकत्व है। इसे खण्ड-खण्ड में विभाजित नहीं किया जा सकता। सृष्टि में दिखाई देनेवाले विभिन्न रूप उस एक ही परम तत्व के विभिन्न रूप मात्र हैं। ये रूप बनते एवं बिगड़ते रहते हैं किन्तु इनका मूल तत्व सर्वदा एक रूप रहता है तथा वही सत्य है, अन्य सभी मिथ्या एवं भ्रम मात्र हैं। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग शरीर से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार यह सृष्टि उस परम चेतन से भिन्न नहीं है। सृष्टि में इन भिन्नताओं को देखना ही अज्ञान है तथा इसमें एकता देखना ही ज्ञान है। यही ज्ञान अद्वैत का अनुभव है जो न कोई सिद्धान्त है न किसी कवि की कल्पना है बल्कि यही इस सृष्टि का परम सत्य है जिसकी अभिव्यक्ति अनेक

ज्ञानियों द्वारा हुई है।

संसार के सभी दृश्य पदार्थ जड़ प्रकृति द्वारा निर्मित हैं जिनका निर्माण उस चेतन तत्व से हुआ है तथा वही चेतन तत्व सबके भीतर उपस्थित रहकर उसका नियन्त्रण एवं नियमन कर रहा है। इसके अनुसार मनुष्य के भीतर का वह चेतन तत्व जिसे आत्मा नाम से सम्बोधित किया जाता है वह उसी परम चेतन ब्रह्म अथवा समष्टि चेतन का ही अंश है। इसी ज्ञान प्राप्ति के बाद उसे सृष्टि में एकत्व दिखाई देता है जो पूर्ण ज्ञान है।

दत्तात्रेय जी इसी ज्ञान को उपलब्ध हुए जिससे वे आत्मा को अपना स्वरूप मानकर अद्वैत में स्थित हुए। उनका समस्त द्वैत भाव नष्ट हुआ। इसी अद्वैत का जैसा वर्णन इस ग्रन्थ 'अवधूत गीता' में है वैसा अन्य किसी वेदान्त ग्रन्थ में नहीं मिलता। वेदान्त का सार रूप यह ग्रन्थ दत्तात्रेय जी की अमर कृति है जिसका पान कर व्यक्ति अमृत को उपलब्ध हो सकता है। यह एक अनुकरणीय ग्रन्थ है।

—नन्दलाल दशोरा

अनुक्रमणिका

अध्याय	*विषय*	*पृष्ठ संख्या*
पहला	सब कुछ ब्रह्म ही है, आत्मा ब्रह्म ही है, मैं ब्रह्म ही हूँ, शिष्य को आत्म-ज्ञान का उपदेश।	९
दूसरा	गुण ग्राहकता, आत्मानुभूति का वर्णन, ब्रह्म स्वरूप का वर्णन, गुरु के उपदेश से ही आत्मबोध, आत्म स्वरूप कथन।	५८
तीसरा	मैं ज्ञानामृत हूँ, शिष्य को ज्ञानोपदेश, आत्म स्वरूप कथन, मन को उपदेश, आत्म स्वरूप का वर्णन, त्याग भावना का त्याग।	८१
चौथा	आत्मा का कथन सम्भव नहीं है, मैं आत्म स्वरूप हूँ।	१०८
पाँचवाँ	मन को उपदेश।	१२३
छठवाँ	आत्मा सर्वभेद रहित है, वह एक ही शिव रूप है, मैं ही शिव रूप हूँ।	१४२
सातवाँ	अवधूत के लक्षण, जीवन्मुक्त की स्थिति।	१५८
आठवाँ	मुनि (ज्ञानी) के लक्षण, अ+व+धू+त के लक्षण, स्त्री परित्याग।	१६७

दत्तात्रेय कृत

अवधूत गीता

पहला अध्याय

ईश्वरानुग्रंहादेव पुंसामद्वैत वासना।
महद्भयपरित्राणा विप्राणामुपजायते ॥ १ ॥

अनुवाद— महान् भय से रक्षा करने वाली अद्वैत की वासना मनुष्यों में, विप्रों में ईश्वर के अनुग्रह (कृपा) से ही उत्पन्न होती है।

व्याख्या—संसार में मृत्यु का भय ही सबसे बड़ा भय है। बार-बार जन्म लेने एवं मरने से मनुष्य मुक्त होना चाहता है किन्तु अद्वैत की उपलब्धि के बिना मुक्ति नहीं होती। अद्वैत का ज्ञान ही सृष्टि का सर्वोच्च ज्ञान है। जिसकी पूर्ण व्याख्या वेदान्त ग्रन्थों में की गई है। ब्रह्मसूत्र, योग वाशिष्ठ, उपनिषद, अष्टावक्र गीता आदि सभी अद्वैत की बात कहते हैं। अद्वैत का अर्थ है दो नहीं हैं, जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं, सृष्टि और सृष्टा दो नहीं हैं, प्रकृति और पुरुष दो नहीं हैं बल्कि एक ही ब्रह्म सृष्टि के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए जीव, सृष्टि, प्रकृति आदि उसी एक ब्रह्म के विभिन्न रूप मात्र हैं। इनमें परस्पर एकत्व एवं साम्य है। भिन्नता बाहरी है, भीतर एकत्व है, सब कुछ संयुक्त है। अज्ञानी को भिन्नता दिखाई देती है जबकि ज्ञानी इनमें

एकत्व देखता है। जीवन और ब्रह्म, जगत और ब्रह्म, प्रकृति और ब्रह्म में एकत्व देखना ही ज्ञान है तथा ज्ञान प्राप्ति के बाद ही मनुष्य इस जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त होता है। मुक्ति की अन्य कोई विधि नहीं है। शास्त्र वचन भी है, "ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।" यह ज्ञान है जीव एवं ब्रह्म की एकता का ज्ञान। शंकराचार्य कहते हैं, "जब तक ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध नहीं होता तब तक सौ कल्प में भी मुक्ति नहीं हो सकती।" इस अद्वैत की अनुभूति ही मनुष्य की मृत्यु रूपी महान भय से रक्षा कर सकती है। अन्य कोई विधि नहीं है।

किन्तु अद्वैत की वासना अथवा मुक्ति की इच्छा हर मनुष्य में नहीं हो सकती। मनुष्य मन, बुद्धि, अहंकार एवं शरीर में ही जीता है तथा पूर्व जन्मों के संस्कार ही उसका जीवन चलाते हैं जिससे उसकी वासनाएँ भी क्षुद्र एवं सीमित होती हैं। वह रोटी, कपड़ा, मकान, धन, स्त्री, पुत्र, यश, प्रशंसा, सम्मान आदि की ही कामना करता है। ये ही वासनाएँ उसे जन्म-मरण से भयभीत करती हैं क्योंकि मृत्यु पर ये सभी उसका साथ नहीं दे सकते। जो व्यक्ति इन क्षुद्र वासनाओं से ग्रस्त है उसमें कभी अद्वैत की वासना का उदय नहीं हो सकता, न कभी उसे जीव एवं ब्रह्म की एकता का ही अनुभव हो सकता है। यह अनुभव ईश्वर की कृपा से कुछ ही व्यक्तियों को प्राप्त होता है जिससे वे जीवन्मुक्त होकर विचरते हैं। ईश्वर के इस अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को सर्वप्रथम अपनी पात्रता सिद्ध करनी पड़ती है। अपात्र पर ईश्वर कृपा नहीं बरसती अथवा यों कहना चाहिए कि ईश्वर की कृपा तो सब पर समान रूप से बरस ही रही है किन्तु अपात्र उसे ग्रहण नहीं कर पा रहा है इसलिए वह खाली रह जाता है तथा पात्रता वाला व्यक्ति उसका लाभ उठा लेता है।

भगवान् दत्तात्रेय कहते हैं कि यह पात्रता विप्र होने से ही आती है। विप्र का अर्थ है वेदाभ्यासी। शास्त्रों में कहा गया है—

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासाद्भवेद्विप्रों ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥

अत: जो वेदाभ्यासी है, वेदों के मर्म को समझ गया है उसी की ब्रह्म प्राप्ति की वासना होती है। यही उसकी पात्रता है जिसे प्राप्त करने वाला ही 'विप्र' कहलाता है। ऐसे विप्रों को ही ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है जिससे वह मृत्यु के भय से मुक्त होकर अद्वैत का अनुभव कर परमानन्द में स्थित होता है।

इस सूत्र में दत्तात्रेय जी ने अद्वैत की वासना अर्थात ब्रह्मज्ञान की इच्छा होने के लिए स्वयं की पात्रता एवं भगवद् कृपा दोनों को ही महत्वपूर्ण मानकर इन पर बल दिया है। शंकराचार्य ने भी कहा है, ''जीवों में प्रथम तो नरजन्म ही दुर्लभ है, उसमें भी पुरुषत्व और उसमें भी ब्राह्मणत्व का मिलना कठिन है, ब्राह्मण होने से भी वैदिक धर्म का अनुयायी होना और उसमें भी विद्वता का होना कठिन है। आत्मा और अनात्मा का विवेक, सम्यक्, अनुभव, ब्रह्मात्मभाव में स्थिति और मुक्ति ये तो करोड़ों जन्मों में किये गये शुभ कर्मों के परिपाक के बिना प्राप्त हो ही नहीं सकती। भगवत्कृपा ही जिनकी प्राप्ति का कारण है।''

(विवेक चूड़ामणि २-३)

येनेदं पूरितं सर्वमात्मनैवात्मनात्मनि।
निराकारं कथं वन्दे ह्याभिन्नं शिवमव्यम्॥२॥

अनुवाद— *यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत जिस आत्मा द्वारा आत्मा से आत्मा में ही पूर्ण हो रहा है उस निराकार (ब्रह्म) का मैं किस प्रकार वन्दन करूँ क्योंकि वह (जीव से) अभिन्न है, कल्याण स्वरूप है, (तथा) अव्यय है।*

व्याख्या—अज्ञानी (जिसे आत्म-ज्ञान नहीं हुआ है) को जीव तथा ब्रह्म में भिन्नता ज्ञात होती है। वह ईश्वर को जीवात्मा से भिन्न मानकर उसकी उपासना, वन्दना, प्रार्थना, पूजा करता है तथा उसे प्रसन्न करके उससे इच्छित फल प्राप्ति की कामना करता है किन्तु जिसे यह ज्ञान हो गया है कि जीव और ब्रह्म एक ही चेतन सत्ता के दो रूप मात्र हैं जो

अभिन्न है। इनमें किसी प्रकार की भिन्नता है ही नहीं। आत्मा स्वयं परमात्म स्वरूप ही है। यह सम्पूर्ण जगत जो मनुष्य को दिखाई दे रहा है वह उस ब्रह्म से भिन्न नहीं बल्कि ब्रह्म से ही पूर्ण है, सारा ब्रह्म ही है। फिर कौन किसकी वन्दना करे। वन्दना तब की जाती है जब अज्ञान की अवस्था में मनुष्य अपने को उस ब्रह्म से भिन्न समझता है। दत्तात्रेय जी को ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म ही है जो उसका स्थूल रूप है जिसमें वह ब्रह्म ही सर्व व्याप्त है फिर कौन किसकी वन्दना करे। फिर ब्रह्म और जीव में कोई भेद ही नहीं है तथा वह निराकार है, स्वयं शिव रूप (कल्याण स्वरूप) है तथा अव्यय (नाश रहित) है। यह आत्मा भी इसी गुण वाली है फिर किसकी वन्दना की जाए। इस अद्वैत की अनुभूति के बाद वन्दना, उपासना, प्रार्थना आदि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। यही पूर्ण ज्ञान है जिसके बाद जानने को कुछ भी शेष नहीं रहता। सभी प्रकार की साधनाएँ ज्ञान प्राप्ति के लिए ही की जाती हैं। ज्ञान प्राप्ति के बाद सभी साधनाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। उन्हें छोड़कर ज्ञानी ब्रह्म में ही लीन रहता है।

पंचभूतात्मकं विश्वं मरिचिजलमन्निभम्।
कस्याप्य हो नगस्कुर्यामहमेको निरंजनः ॥ ३ ॥

अनुवाद—*यह विश्व पाँच भूतों का समुदाय है जो मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या भी है। मैं एक ही निरन्जन (निर्दोष) हूँ। फिर मैं किसको नमस्कार करूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी को आत्मबोध हुआ जिससे उन्होंने जाना कि आत्मा और ब्रह्म एक ही है। ब्रह्म की ही भाँति आत्मा भी निर्दोष ही है। उसमें किसी प्रकार का मल अथवा विकार है ही नहीं। वह पूर्ण है तथा यह सम्पूर्ण विश्व पाँच भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) का समुदाय मात्र है जो वास्तविक नहीं है बल्कि मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या है जिससे किसी की प्यास बुझती नहीं। लोग हैं जो इन

सांसारिक वस्तुओं के भोग में अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं किन्तु न इनसे उन्हें शान्ति मिलती है, न आनन्द। इसलिए यह मिथ्या है। एक ब्रह्म ही सत्य है जिसके ज्ञान से मनुष्य को परमानन्द की अनुभूति होती है तथा वह जीवन-मरण के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। दत्तात्रेय जी को यह ज्ञान प्राप्त हुआ जिससे उनका इस जगत के प्रति जो भ्रम था वह नष्ट हो गया कि संसार उन्हें सुख दे सकता है। वे कहते हैं कि में स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही हूँ जिससे निर्दोष हूँ। अब मैं किसको नमस्कार करूँ। यह संसार अज्ञानी को ही सत्य प्रतीत होता है तथा मृगतृष्णा के जल की भाँति इसमें सुख ढूँढता है किन्तु मिलता नहीं व अन्त में अपने प्राण ही गंवा देता है। इसलिए यह मिथ्या है।

आत्मैव केवलं सर्वं भेदाभेदो न विद्यते।
अस्ति नास्ति कथं ब्रुयां विस्मयः प्रतिभातिमे॥४॥

अनुवाद— *यह आत्मा ही सर्व रूप है तथा केवल है जिसमें भेद और अभेद विद्यमान नहीं है। इसे मैं 'है' अथवा 'नहीं है' किस प्रकार कहूँ। मुझे यह आश्चर्य रूप प्रतीत होता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी यहाँ आत्म स्वरूप का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि यह आत्मा ब्रह्म स्वरूप ही है जो सर्वरूप है। यह सम्पूर्ण सृष्टि इसका फैलाव मात्र है, इसी की अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण सृष्टि में एक ही आत्मा व्याप्त है इसलिए यह सृष्टि केवल आत्मा ही है जिसमें अन्य कोई विजातीय तत्व है ही नहीं। इसलिए इसमें कोई भेद ही नहीं है। भेद होने पर ही अभेद सिद्ध करने के प्रमाण देने पड़ते हैं। किन्तु जब मैंने प्रत्यक्ष देख लिया कि यह आत्मा ही सर्वरूप है तो फिर इसे अभेद सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं है। शास्त्र आस्ति, नास्ति की बातें कहते हैं, कोई कहता है आत्मा है, कोई कहता है आत्मा नहीं है, कोई कहता है आत्मा ईश्वर से भिन्न है, कोई कहता है यह अभिन्न है। भिन्न प्रतीत होने पर ही उसे अभिन्न कहा जाता है जैसे शरीर के भिन्न-

भिन्न अंगों को शरीर से अभिन्न कहा जाता है क्योंकि वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु यह आत्मा सृष्टि के विभिन्न अवयवों का जोड़ मात्र नहीं है जिससे इसे अभिन्न कहा जाए। यह एक ही है जिससे इसे 'है' अथवा 'नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, यह आश्चर्य रूप प्रतीत होता है। एक ही होने से इसमें अन्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

वेदान्तसारसर्वस्वं ज्ञानविज्ञानमेव च।
अहमात्मा निराकारः सर्वव्यापी स्वभावतः॥५॥

अनुवाद— *वेदान्त का सार ही हमारा सर्वस्व है और वही ज्ञान एवं विज्ञान है। मैं आत्मा हूँ, निराकार हूँ तथा स्वभाव से ही सर्वव्यापी हूँ।*

व्याख्या—वेदान्त इस सृष्टि का सर्वोच्च ज्ञान है जिसका सार अद्वैत है। इस सम्पूर्ण दृश्य जगत के दो रूप दिखाई देते हैं एक है जड़ पदार्थ तथा दूसरा चेतन जगत जिसमें सभी जीवधारी एवं मनुष्य आते हैं। तीसरा रूप ईश्वर है जिसने सृष्टि बनाई, उस पर मनुष्य को पैदा किया तथा वही ईश्वर अपने आदेशों से इसका संचालन कर रहा है। बिना उसकी इच्छा एवं आज्ञा के एक पत्ता भी नहीं हिलता। इस प्रकार इस सृष्टि के तीन रूप हो जाते हैं—प्रकृति (जो जड़ है), जीव (जो जड़ एवं चेतन का संयुक्त रूप है) तथा ईश्वर (जो केवल चेतन स्वरूप है)। इन तीनों के सह-सम्बन्धों को लेकर संसार ने विभिन्न धर्मों को जन्म दिया। मनुष्य की कल्पना की उड़ान जहाँ तक जा सकी उसके अनुसार ही इनकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ दीं। किसी ने ईश्वर को सर्वेसर्वा मानकर उसके स्वर्ग में बिठा दिया, उसे एक सम्राट का रूप दे दिया, किसी ने उसे न्यायाधीश मानकर दण्ड एवं पुरस्कार देने वाला बता दिया, किसी ने उसे मालिक एवं मनुष्य को गुलाम कह दिया, किसी ने ईश्वर के अस्तित्व से ही इन्कार कर दिया एवं कह दिया कि इस प्रकार

की कोई सत्ता है ही नहीं। यह मनुष्य की कल्पना मात्र है।

इन सब मान्यताओं से ऊपर वेदान्त ने अद्वैत को प्रतिष्ठा दी जो सभी धर्मों एवं मान्यताओं का सार है। इससे ऊँचा कोई भी ज्ञान दुनिया में नहीं है। वेदान्त के अनुसार यह सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत उस एक ही परम तत्व ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, उसी का प्रसार एवं फैलाव है। इसलिए यह सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म ही है। उससे किसी प्रकार भिन्न नहीं है। जैसे स्वर्ण से आभूषण एवं मिट्टी से घड़ा भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह जगत ब्रह्म से भिन्न नहीं है। भिन्नता की प्रतीति अज्ञान के कारण ही होती है। ज्ञान प्राप्ति पर इनमें एकत्व दिखाई देता है। यह एक ही ब्रह्म सृष्टि के विभिन्न रूपों में कैसे अभिव्यक्त होता है यह जानना इसका विज्ञान पक्ष है तथा उस ब्रह्म का अनुभव करना, उसे जानना इसका ज्ञान पक्ष है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण ज्ञान के ज्ञान एवं विज्ञान नाम से दो प्रकार हो जाते हैं। वेदान्त इन दोनों की समुचित व्याख्या करता है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि का रहस्य ज्ञात हो सकता है।

इस सूत्र में दत्तात्रेय कहते हैं कि इस सृष्टि का पूर्ण ज्ञान वेदान्त है जिसका सार अद्वैत है। वही मेरा सर्वस्व है। मैं इसके अतिरिक्त अन्य किसी को मान्यता नहीं देता। ज्ञान एवं विज्ञान का जो स्वरूप वेदान्त ने बताया है उसके सिवाय अन्य कोई भी ज्ञान नहीं है। वही पूर्ण ज्ञान है। इसके अनुसार मैं स्वयं शरीर, मन, बुद्धि आदि नहीं बल्कि पूर्ण चेतन आत्मा हूँ। आत्मा एवं परमात्मा 'ब्रह्म' में चूँकि कोई भेद नहीं है इसलिए मैं निराकार भी हूँ तथा ब्रह्म की ही भाँति सर्वव्यापी भी हूँ। सर्व व्यापकता आत्मा का स्वभाव है। उसे किसी देश, काल, शरीर आदि से आबद्ध नहीं किया जा सकता। ब्रह्म की भाँति आत्मा भी असीम है।

यो वै सर्वात्मको देवो निष्फलो गगनोपयः।
स्वभाव निर्मलः शुद्धः स एवाहं न संशयः॥ ६॥

अनुवाद— *जो सर्वस्वरूप देव (ब्रह्म) है वह अवयव रहित,*

आकाश के सदृश, स्वभाव से निर्मल एवं शुद्ध है। वही मैं हूँ, इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या—दत्तात्रेय को ब्रह्मानुभूति हुई जिससे उन्होंने जाना कि वह ब्रह्म की सृष्टि का सब कुछ है। सृष्टि के विभिन्न स्वरूप उसी एक की अभिव्यक्ति मात्र है इसलिए वह ब्रह्म से किसी प्रकार भिन्न नहीं है। उसी के भिन्न स्वरूप मात्र हैं। वही एक अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के आभूषणों में एक ही स्वर्ण तत्व है, जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के बर्तनों में एक ही मिट्टी है उसी प्रकार सृष्टि के विभिन्न स्वरूपों में एक ही ब्रह्म है किन्तु वह स्वयं अवयव रहित है, उसका स्वयं का कोई रूप नहीं है। वह आकाश की भाँति सर्वत्र व्याप्त है, कोई भी ऐसा स्थान एवं काल नहीं, जहाँ वह न हो। वह स्वभाव से ही निर्मल है। उसमें क़िसी प्रकार की विकृति नहीं है। वह शुद्ध है। अशुद्धि उसमें हैं ही नहीं। जो सबको पवित्र एवं शुद्ध करने वाला है उसमें अशुद्धि कैसे रह सकती है।

दत्तात्रेय कहते हैं कि मुझे इसका ज्ञान हो गया कि मैं आत्म स्वरूप हूँ इसलिए ब्रह्म ही हूँ। इसलिए मैं भी अवयव रहित, आकाशवत् निर्मल एवं शुद्ध हूँ। इसमें कोई संशय नहीं है। आत्म-ज्ञान से पूर्व ही मैं अपने को अज्ञानी, अशुद्ध, पापी, हीन मानता रहा था। मेरी यह भ्रान्ति अब मिट गई है एवं मैं आत्मा में ही स्थित हूँ।

अहमेवाव्ययोऽनन्तः शुद्धविज्ञान विग्रहः।
सुखं दुखं न जानामि कथं कस्यपि वर्तते॥ ७॥

अनुवाद— *मैं निश्चय ही नाश रहित, अनन्त एवं शुद्ध विज्ञान स्वरूप हूँ। मैं सुख-दुःख को नहीं जानता हूँ कि ये किसको व किस प्रकार होते हैं।*

व्याख्या—मनुष्य का शरीर एक यन्त्र के समान है जिसमें शरीर, मन, बुद्धि एवं चेतना है जिनके भिन्न-भिन्न धर्म हैं। सुख-दुःख की

अनुभूति मन का धर्म है। मन में इच्छाएँ हैं, कामनाएँ हैं, वासनाएँ हैं जिनकी पूर्ति होने पर सुख का अनुभव होता है तथा पूर्ति न होने पर उसे दुःख होता है। आत्मा केवल एक शक्ति है जो शरीर, मन, बुद्धि आदि का संचालन मात्र करता है। सुख-दुःख की अनुभूति आत्मा को नहीं होती। ज्ञान प्राप्ति के बाद ज्ञानी अपनी आत्मा में ही स्थित हो जाता है। वह आत्मा को ही अपना स्वरूप समझता है इसलिए शरीर एवं मन के अनुभवों को वह अपना अनुभव नहीं मानता। आत्मा केवल चैतन्य है, साक्षी है, दृष्टा मात्र है इसलिए आत्मज्ञानी भी दृष्टा मात्र होता है। आत्मा नाश रहित, अनन्त एवं शुद्ध विज्ञान स्वरूप है इसलिए दत्तात्रेय कहते हैं कि मैं शरीर एवं मन नहीं हूँ बल्कि आत्म स्वरूप होने से मैं नाश रहित, अनन्त एवं शुद्ध विज्ञान स्वरूप हूँ। इसी कारण ये सुख-दुःख मन के धर्म होने से मेरे धर्म नहीं हैं। जो मन में जीता है उसी को इनकी अनुभूति होती है। मुझे नहीं होती।

न मानसं कर्म शुभाशुभं मे,
न कायिकं कर्म शुभाशुभं मे।
न वाचिकं कर्म शुभाशुभं मे,
ज्ञानामृतं शुद्धमतीन्द्रियोऽहम्॥ ८॥

अनुवाद— *मन के द्वारा किये गये शुभ व अशुभ कर्म मेरे नहीं हैं, न शरीर द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म मेरे हैं; वाणी द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म भी मेरे नहीं हैं। मैं शुद्ध, ज्ञानामृत एवं इन्द्रियों का अविषय हूँ।*

व्याख्या—कर्म का आधार मन है। मन में पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण अथवा वातावरण के प्रभाव से कामनाएँ, वासनाएँ, इच्छाएँ आदि उत्पन्न होती हैं जिससे मन में शुभ एवं अशुभ चिन्तन ही मानसिक कर्म हैं। यही चिन्तन जब वाणी द्वारा प्रकट होते हैं तो इसे वाचिक कर्म कहते हैं। ये भी शुभ अथवा अशुभ होते हैं। इनके बाद इन विचारों की

ही अभिव्यक्ति शारीरिक कर्मों के रूप में होती है। जैसा मन का शुभाशुभ चिन्तन होता है उसी के अनुसार शरीर द्वारा शुभाशुभ कर्म होते हैं। अज्ञानी के सभी कर्म स्वयं की मानसिक कल्पना के आधार पर ही होते हैं जिससे वह कर्म फलों का भोक्ता भी होता है किन्तु ज्ञान प्राप्ति के बाद योगी आत्मा में स्थित हो जाता है। वह शरीर और मन को अपना स्वरूप न मानकर आत्मा को ही अपना स्वरूप मानता है जिससे वह इन कर्म फलों का भोक्ता नहीं होता। आत्मा चेतन स्वरूप है जो केवल साक्षी एवं दृष्टा मात्र है। वह कर्मों में लिप्त नहीं होता न कर्म ही उससे लिप्त होते हैं। वह ज्ञान रूपी अमृत के समान एवं शुद्ध है। वह मानसिक विकृतियों से दूषित नहीं होता तथा इन्द्रियों द्वारा किये गये कर्म उसके कर्म नहीं होते जिससे उसे कर्म फलों का भोग नहीं करना पड़ता। दत्तात्रेय जी ज्ञान को उपलब्ध हो गये इसलिए वे कहते हैं कि मैं शरीर, मन एवं वाणी से भिन्न शुद्ध आत्म-स्वरूप होने से न मैं कर्मों का कर्त्ता हूँ न भोक्ता। अर्थ यह है कि ज्ञानी सभी प्रकार के कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। अज्ञानी को ही कर्म फल भोगने पड़ते हैं।

मनो वै गगनाकारं मनो वै सर्वतोमुखम्।
मनोऽतीतं मनःसर्वं न मनः परमार्थतः॥ ९॥

अनुवाद—*निश्चय ही यह मन गगन के आकार वाला है तथा इसके सभी ओर मुख हैं, मन से पार कुछ भी नहीं है, मन ही सब कुछ है किन्तु यह मन भी परमार्थ से सत्य नहीं है।*

व्याख्या—इस सूत्र में दत्तात्रेय मन की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह मन आकाश के समान सर्वत्र व्यापक एवं विशाल है जिसके सभी ओर मुख हैं। संसार का कोई भी कार्य मन की कल्पना के बिना नहीं होता। सभी प्रकार की अच्छी-बुरी, शुभ-अशुभ योजनाएँ मन द्वारा ही निर्मित होती हैं। स्वर्ग एवं नरक जाने की योजना मन द्वारा ही निर्मित होती हैं। वह चोरी, हत्याएँ, अनाचार की भी योजनाएँ बनाता है तो

संसार में श्रेष्ठ कर्मों की योजनाएँ भी वही बनाता है, मुक्ति की योजना भी सर्वप्रथम मन में ही बनती है। दुनिया की कोई भी तथा किसी भी प्रकार की योजना हो उसका सर्वप्रथम निर्माण मन में ही होता है। मन सर्वतोमुखी है। वह सभी प्रकार की योजनाएँ बना सकता है। मन के कारण ही ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की योजना तैयार की। इसलिए सम्पूर्ण सृष्टि का आधार मन ही है, मन ही सब कुछ है, यही सम्पूर्ण सृष्टि है, इससे पार कुछ भी नहीं है। किन्तु दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मन का इतना विस्तार होते हुए भी परमार्थ रूप से वह सत्य नहीं है। उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह जड़ है जो उस चेतन तत्व आत्मा की शक्ति से संचालित है। अहंकार के कारण वासना पूर्ति हेतु इसका निर्माण हुआ है तथा इसका नाश भी सम्भव है। आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है जिसका कभी नाश नहीं होता। वही परमार्थ में सत्य है, अन्य सभी मिथ्या है। मनोनाश से ही योगी आत्म-ज्ञान को उपलब्ध होकर जीवन्मुक्त होता है इसलिए जिसका नाश हो सकता है उसे परमार्थ में सत्य नहीं कहा जा सकता। एकमात्र आत्मा ही सत्य है।

अहमेकमिदं सर्वं व्योमातीतंनिरन्तरम्।
पश्यामि कथमाष्मानं प्रत्यक्षं वा तिरोहितम्॥ १०॥

अनुवाद— *मैं आत्मा को प्रत्यक्ष अथवा तिरोहित किस प्रकार देखूँ क्योंकि मैं (आत्मा स्वरूप होने से) एक ही तथा यही सर्वरूप हूँ तथा आकाश से भी परे निरन्तर हूँ।*

व्याख्या—आत्मा को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी प्रकार देखा नहीं जा सकता क्योंकि सभी कुछ उसी से देखा जाता है। आत्मा ही एकमात्र चेतन तत्व है जिससे सभी वस्तुएँ देखी जाती हैं। आत्मा के अलावा अन्य सभी जड़ पदार्थ हैं, प्रकृति है। जड़ पदार्थ चेतन को कैसे देख सकता है। ये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी जड़ प्रकृति से निर्मित हैं जो आत्मा रूपी चेतना शक्ति से ही सक्रिय हैं। इसलिए देखने

वाला आत्मा ही है जो एक ही है तथा वही सब कुछ है। यह आत्मा आकाश से भी पार अति सूक्ष्म है, इससे भी विशाल है तथा निरन्तर है जो सभी कालों एवं स्थान में विद्यमान है। इससे भिन्न कुछ है ही नहीं इसलिए इसे किसी भी प्रकार देखा नहीं जा सकता।

दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा रूप होने से यह अनुभव कर रहा हूँ कि मैं एक ही आत्मा हूँ तथा मैं ही सब कुछ हूँ। मेरे सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, फिर कौन किसको देखे। देखने वाला दूसरा कोई नहीं है।

त्वमेवमेकं हि कथं न बुध्यसे,
समं हि सर्वेषु विमृष्टमव्ययम्।
सदोदितोऽसि त्वमखण्डितः प्रभो,
दिवा च नक्तं च कथं हि मन्यसे॥ ११॥

अनुवाद— *हे प्रभो! तू क्यों नहीं जानता कि तू एक ही है, सभी में समान है, नाश रहित है ऐसा विचार किया गया है। तू सदा ही प्रकाशमान है तथा अखण्ड है (भेद रहित है) फिर तू दिन और रात्रि को किस प्रकार मानता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी यहाँ अपने शिष्य को उपदेश करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार मैंने माना है कि मैं शरीर, मन, बुद्धि आदि नहीं बल्कि आत्मा ही हूँ तथा एक ही हूँ जो सभी में समान रूप से विद्यमान है तथा नाशरहित है। इसे तू क्यों नहीं जानता। यह आत्मा स्वयं एवं सदा ही प्रकाशमान है। सभी इसी के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। यह अखण्ड है जिसे खण्ड-खण्ड में विभाजित नहीं किया जा सकता, इसमें भेद ही नहीं है। सृष्टि के समस्त रूप इसी के हैं। भेदों की कल्पना मन का ही धर्म है। आत्मा में कोई भेद नहीं है। दिन और रात्रि, सुख और दुःख, जय और पराजय, हानि-लाभ आदि सभी द्वन्द्वों की अनुभूति मन के कारण होती है। आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हुआ ज्ञानी इनमें भेद नहीं

करता फिर तू किस प्रकार इनमें भेद करता है। इसका भाव यह है कि ज्ञान प्राप्ति के बाद व्यक्ति द्वन्द्वातीत हो जाता है। वह सभी को आत्म रूप ही देखता है जिससे उसकी भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है।

आत्मानं सततं विद्धि सर्वत्रैकं निरन्तरम्।
अहं ध्याता परं ध्येयमखण्डं खंड्यते कथम्॥ १२॥

अनुवाद— *आत्मा को तुम सदा सर्वत्र, एक एवं अविचल जानो। फिर मैं ध्याता (ध्यान करने वाला) हूँ तथा आत्मा ध्येय (जिसका ध्यान किया जाता है) का भेद किस प्रकार करते हो। जो अखण्ड है उसका खण्डन कैसे करते हो।*

व्याख्या—इस सूत्र में दत्तात्रेय जी अपने शिष्य को उपदेश करते हुए कहते हैं कि यह आत्मा एक ही है जो सर्वत्र व्याप्त है। सभी आकार उसी के हैं तथा वह नित्य है। ध्यान करने वाला स्वयं को आत्मा से भिन्न समझता है इसलिए वह आत्मा का ध्यान करता है किन्तु आत्म-ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति आत्मा से भिन्न किसी के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता इसलिए उसके लिए ध्यान का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता! जब सर्वत्र एक आत्मा ही है तो फिर कौन किसका ध्यान करे। ज्ञानी में ध्याता एवं ध्येय का भेद ही समाप्त हो जाता है। वह सर्वत्र आत्मा ही देखता है।

न जातो न मृतोऽसि त्वं न ते देहः कदाचन।
सर्वं ब्रह्मेति विख्यातं ब्रवीति बहुधा श्रुतिः॥ १३॥

अनुवाद— *न तो तेरा कभी जन्म हुआ है न कभी मरता ही है, न कभी तेरा शरीर ही है। यह सब ब्रह्म ही है ऐसा प्रसिद्ध है तथा अनेक श्रुतियाँ ऐसा ही कहती हैं।*

व्याख्या—आत्मबोध हो जाने पर ज्ञानी इस शरीर एवं मन को अपना स्वरूप न मानकर आत्मा को ही निज का स्वरूप मानता है जो न

कभी जन्मता है, न मरता है। उसका अपना कोई शरीर नहीं है क्योंकि वह निराकार है जो सर्वव्याप्त है। यह आत्मा स्वयं ब्रह्म ही है। जन्म एवं मृत्यु केवल शरीर की होती है आत्मा की नहीं, यह जगत प्रसिद्ध है तथा सभी श्रुतियाँ ऐसा ही कहती हैं। दत्तात्रेय जी अपने शिष्य को इसी का उपदेश कर रहे हैं कि तू अपने को शरीर नहीं बल्कि आत्मा जान जो स्वयं ब्रह्म ही है। गीता में भी यही कहा गया है, ''यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।'' *(गीता २/२०)*

स बाह्याभ्यन्तरोऽसि त्वं शिवः सर्वत्र सर्वदा।
इतस्ततः कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाचवत्॥ १४॥

अनुवाद— *जो आत्मा (ब्रह्म) बाहर और भीतर सर्वत्र एवं सदा से ही विद्यमान है तथा कल्याण रूप है, वह तू ही है। फिर तू भ्रान्त होकर इधर-उधर पिशाच की तरह क्यों दौड़ता फिरता है।*

व्याख्या—श्रुतियों में जिस ब्रह्म का वर्णन किया गया है जो बाहर और भीतर सर्वत्र व्याप्त है। सृष्टि का कोई भी पदार्थ उससे भिन्न नहीं है। वह सदा से ही विद्यमान है तथा सदा ही रहेगा। वह न कभी खोया है जिसे ढूँढ़ना पड़े। तू स्वयं शरीर नहीं बल्कि वही चेतन आत्मा है जो ब्रह्म ही है। श्रुति वचन है ''अयंमात्मा ब्रह्म'' (यह आत्मा ब्रह्म ही है)। तुझे यह भ्रांति हो गई है कि वह कहीं अन्यत्र है, आसमान में बैठा है, स्वर्ग में बैठा है, मन्दिर, मस्जिद व गुरुद्वारे में है, किसी गुरु के पास है जो तुझे अनुनय-विनय करने एवं पाँव छूने से दे देगा, वह कहीं जंगल में है अथवा पर्वत गुफाओं में है जहाँ जाने से मिल जाएगा, तीर्थों में जाने से मिल जाएगा, गंगा स्नान करने से मिल जाएगा, हज यात्रा करने से मिल जाएगा आदि। इसी भ्रांति के कारण तू पिशाच की तरह इधर-उधर दौड़ता फिरता है जो तेरी मूढ़ता ही है। यह कहीं छिपा भी नहीं है,

प्रत्यक्ष है जो सर्वत्र दिखाई दे रहा है। किन्तु मेरी आँखों पर जो माया का पर्दा पड़ा है जिससे वह दिखाई नहीं दे रहा है। इस पर्दे को हटा जिससे यह सम्पूर्ण सृष्टि ही तुझे ब्रह्ममय ज्ञात होने लगेगी। विचार करके इसे जान ले तो तेरा सारा भ्रम दूर हो जाएगा। कहीं भटकना नहीं पड़ेगा। दत्तात्रेय जी ने इस सूत्र में अपने शिष्य को ज्ञान प्राप्ति का रहस्य प्रकट कर दिया।

संयोगश्च विभागश्च वर्तते न च तेन मे।
न त्वं नाहं जगत्मेदं सर्वमात्मैव केवलम्॥ १५॥

अनुवाद— तेरे में और मेरे में कोई संयोग और विभाग नहीं है। न तू है, न मैं हूँ और न यह जगत ही है बल्कि यह सब केवल आत्मा ही है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने शिष्य को आत्म-ज्ञान का उपदेश देते हुए कहते हैं कि संयोग दो अथवा अधिक वस्तुओं का होता है तथा उन्हीं का विभाजन किया जा सकता है किन्तु जब एक ही है तो उसका किससे संयोग हो तथा उसका विभाग भी सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष, जीव और ब्रह्म, आत्मा एवं परमात्मा, शरीर और आत्मा, सृष्टि और सृष्टा आदि में भेद करते हैं तथा भिन्न-भिन्न मानते हैं वे ज्ञानी नहीं हैं। ज्ञान प्राप्ति के बाद ये सभी भेद मिटकर ज्ञानी को सम्पूर्ण जगत ब्रह्म स्वरूप ही ज्ञात होने लगता है। दत्तात्रेय जी इसी की अभिव्यक्ति कर रहे हैं कि तू, मैं और यह जगत नाम की कोई भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं बल्कि सब केवल आत्मा (ब्रह्म) ही है। अज्ञानियों को जिन्हें आत्मा का ज्ञान नहीं उन्हीं को ये सब भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं। ज्ञानी स्वर्ण को देखता है जो सभी आभूषणों में समान रूप से है जब कि अज्ञानी आभूषणों को ही देखता है जो भिन्न-भिन्न हैं। सबमें एक ही स्वर्ण को देखना ही ज्ञान दृष्टि है। ब्रह्म के सिवा अन्य कोई तत्व सृष्टि में है ही नहीं फिर उसका संयोग किससे होगा। वह शुद्ध चैतन्य

स्वरूप ही समस्त सृष्टि है इसलिए इसमें न किसी का संयोग है न विभाग।

शब्दादिपंचकस्यास्य नैवासि त्वं न ते पुनः।
त्वमेव परमं तत्वमतः किं परितप्यसे॥ १६॥

अनुवाद— *फिर ये शब्दादि पंचक (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) न तो तुम हो न ये तुम्हारे हैं। तुम एक ही परम तत्व (ब्रह्म) हो इसलिए क्यों संतप्त होते हो।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध रूपी पंचक पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं जिनका वे भोग करती हैं। इन भोगों से ही उन्हें आनन्द प्राप्त होता है तथा न मिलने पर वे संतप्त होती हैं। किन्तु तुम शरीर एवं इन्द्रियाँ मात्र नहीं हो बल्कि उसके भीतर का चेतन तत्व ब्रह्म हो जिसका इन विषय भोगों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। ये इन्द्रियाँ और विषय भोग तुम्हारे नहीं हैं न तुम्हें सन्तुष्ट ही कर सकते हैं। फिर अकारण ही तुम क्यों संतप्त होते हो।

जन्म मृत्युर्नते चित्तं बन्धमोक्षो शुभाशुभौ।
कथं रोदिषि रे वत्स नाम रूपं न ते न मे॥ १७॥

अनुवाद— *जन्म और मृत्यु, बन्धन और मोक्ष तथा शुभ-अशुभ सब मन के धर्म हैं, तेरे नहीं हैं, ये नाम और रूप भी न तेरे हैं न मेरे। फिर हे वत्स! तू क्यों रूदन करता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी फिर अपने शिष्य को सम्बोधित करके कहते हैं कि मन में वासनाएँ हैं जिनकी पूर्ति के लिए ही वह बार-बार जन्म लेता है व मरता है, यह मन जब तक वासनायुक्त रहता है तब तक यह बन्धन का कारण बनता है तथा वासना से मुक्त होने पर यही मोक्ष का कारण बन जाता है, शुभ एवं अशुभ कर्म भी मन की ही वासना के कारण होते हैं। इसलिए ये सब मन के ही धर्म हैं यहाँ तक कि मन के

कारण ही मुझे भिन्न-भिन्न नाम रूपों की प्रतीति होती है किन्तु तू मन नहीं बल्कि चैतन्य आत्मा है जिसका इन धर्मों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है फिर तू क्यों रूदन करता है अर्थात दूसरों के कारण तू क्यों दुःखी होता है।

अहो चित्त कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाचवत्।
अभिन्नं पश्य चात्मानं रागत्यागात्सुखी भव॥ १८॥

अनुवाद—*खेद है कि यह चित्त किस प्रकार भ्रान्त होकर पिशाच की भाँति दौड़ता-फिरता है। तू अपनी आत्मा को अभिन्न देख तथा राग का त्याग करके सुखी हो जा।*

व्याख्या—दत्तात्रेय फिर शिष्य को उपदेश करते हुए कहते हैं कि मन का धर्म राग है जिसके वशीभूत होकर अपनी वासना पूर्ति हेतु पिशाच की भाँति दौड़ता फिरता है किन्तु वासना की पूर्ति कभी होती नहीं, इसे यह नहीं जानता। यह भोगों में ही सुख मानता है यही इसकी भ्रान्ति है। इसलिए हे शिष्य! तू अपने को आत्मा से अभिन्न देखकर मन के द्वारा उत्पन्न राग का त्याग करके सुखी हो जा। तू मन नहीं बल्कि आत्मा है जिसमें कोई वासना नहीं है। उसी को अपना स्वरूप समझने से तुम सुखी हो सकते हो। राग ही दुःखों का कारण है।

त्वमेव तत्वं हि विकारवर्जितं
निष्कंपमेकं हि विमोक्षविग्रहम्।
न ते च रागो ह्यथवा विरागः
कथं हि सन्तप्यसि कामकामतः॥ १९॥

अनुवाद—*तू निश्चय ही आत्म तत्व है जो विकार रहित है, निष्काम है, एक ही है तथा मोक्ष स्वरूप है। ये राग और विराग भी तेरे नहीं हैं फिर कामों की कामना से क्यों संतप्त है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी शिष्य को आगे कहते हैं कि काम की

कामना करना ही सभी दुःखों का कारण है जो मन का ही धर्म है। किन्तु तू मन नहीं बल्कि चेतन आत्मा है जिसमें कोई विकार नहीं है। ये छः प्रकार के विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर मन के धर्म हैं आत्मा के नहीं हैं। आत्मा कभी किसी कामना से चलायमान नहीं होती। वह सभी प्रकार के द्वन्द्वों में निष्कम्प रहता है। वह एक ही है तथा स्वयं मोक्ष स्वरूप ही है। उसे मोक्ष प्राप्ति की भी कामना नहीं है। यह राग एवं विराग दोनों से रहित है। ऐसे आत्म स्वरूप में स्थित होकर तू कामों की कामना करके क्यों दुःखी होता है।

वदन्ति श्रुतयः सर्वा निर्गुणं शुद्धमव्ययम्।
अशरीरं समं तत्वं तन्मां विधि न संशयः॥ २०॥

अनुवाद—*सम्पूर्ण श्रुतियाँ आत्म तत्व को निर्गुण, शुद्ध, नाश रहित, शरीर से रहित, समरूप ही कहती हैं वही तुम मुझे जानो इसमें संशय नहीं है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी आत्म तत्व का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सभी श्रुतियाँ ब्रह्म को निर्गुण (सत्व, रज, तम गुणों से रहित), शुद्ध, नाश रहित, अशरीरी, सर्वत्र समान रूप से व्याप्त आदि कहती हैं वही ब्रह्म आत्म रूप में मैं हूँ इसमें कोई संशय नहीं है। आत्मा एवं ब्रह्म में कोई भिन्नता है ही नहीं।

साकारमनृतं विद्धि निराकारं निरन्तरम्।
एतत्तत्वोपदेशेन न पुनर्भव संभवः॥ २१॥

अनुवाद—*सांकार को मिथ्या जान, निराकार को निरन्तर (नित्य) जान। इस तत्व के उपदेश से संसार में पुनः उत्पत्ति नहीं होती।*

व्याख्या—*(यह सूत्र अष्टावक्र गीता १/१८ में ज्यों का त्यों दिया गया है जिसमें केवल 'निरन्तरम्' के स्थान पर 'निश्चलम्' शब्द का*

प्रयोग किया गया है जिसकी विस्तृत व्याख्या लेखक की 'अष्टावक्र गीता' नामक पुस्तक में दी गई है) इस सूत्र में दत्तात्रेय जी कहते हैं कि सृष्टि में दिखाई देने वाले सभी साकार रूप उस एक ही निराकार तत्व ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। वही एक निराकार ब्रह्म अनेक साकार रूपों में प्रकट हुआ है जिससे वे इससे भिन्न नहीं हैं किन्तु इनके रूप हमेशा बदलते रहते हैं जिससे ये मिथ्या हैं। इन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। ये सत्य जैसे प्रतीत होते हैं किन्तु सत्य नहीं हैं, भ्रमवश सत्य जैसे दिखाई देते हैं। ये रूप शाश्वत भी नहीं हैं, बनते बिगड़ते रहते हैं। केवल एक ब्रह्म ही ऐसा है जो शाश्वत है, कभी नष्ट नहीं होता। इस शाश्वत को प्राप्त करने से ही मनुष्य जीवन-मृत्यु के चक्र से छुटकारा पा सकता है। मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है। यही तत्वोपदेश है।

एकमेव समं तत्वं वदन्ति हि विपश्चितः।
रागत्यागात्पुनाश्चित्तमेकानेकं न विद्यते॥ २२॥

अनुवाद— *विद्वान् जन कहते हैं कि एक ही तत्व समान रूप से व्याप्त है। राग के त्याग देने से यह चित्त फिर एक और अनेक को नहीं जानता।*

व्याख्या—राग मन का धर्म है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य को सृष्टि में अनेकता दिखाई देती है। वह उस एक तत्व ब्रह्म को नहीं जान सकता। वह एक ही चेतन तत्व मन के पार जाने पर ही ज्ञात हो सकता है जिसके लिए राग का त्याग आवश्यक है। जो व्यक्ति राग, वासना, कामना, इच्छाओं आदि से ऊपर उठ जाता है उसी को उस परम तत्व ब्रह्म की अनुभूति होती है तथा उसी अवस्था में उसे ज्ञान होता है कि वही ब्रह्म सृष्टि में समान रूप से व्याप्त है। ये भिन्नताएँ जो दिखाई दे रही हैं वे भ्रान्ति मात्र हैं। राग के त्याग देने से ही एक और अनेक का भेद मिट जाता है। फिर यह मन एक ब्रह्म को ही सत्य मानने लग जाता है।

अनात्मरूपं च कथं समाधि-
रात्मस्वरूपं च कथं समाधिः।
अस्तीति नास्तीति कथं समाधि-
मोक्षस्वरूपं यदि सर्वमेकम्॥ २३॥

अनुवाद— अनात्म रूप को समाधि कैसे हो सकती है, तथा आत्म स्वरूप को समाधि कैसे हो सकती है। इसी प्रकार 'है' और 'नहीं है' की भी समाधि कैसे हो सकती है और जो मोक्ष स्वरूप एक ही ब्रह्म है तो भी समाधि कैसे हो सकती है।

व्याख्या—इस सूत्र में दत्तात्रेय जी आत्मबोध के लिए समाधि की अनावश्यकता बताते हुए कहते हैं कि संसार में दो ही प्रकार के पदार्थ दिखाई देते हैं—आत्म और अनात्म पदार्थ अर्थात चेतन एवं जड़। जड़ पदार्थ कभी समाधि नहीं लगा सकते तथा चेतन आत्मा स्वयं शुद्ध एवं पूर्ण है जिसे समाधि की आवश्यकता ही नहीं है और यदि कोई कहता है कि आत्मा नहीं है, ब्रह्म नहीं है तो फिर समाधि की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि जब है ही नहीं तो समाधि द्वारा किसे जानने का प्रयत्न किया जा रहा है और जो कहता है आत्मा है, ब्रह्म है आदि तो जिसे इसका ज्ञान हो गया है कि वह है तो फिर समाधि का क्या प्रयोजन है। दत्तात्रेय जी इसमें यही कहना चाहते हैं कि जिसे आत्मबोध हो गया उसके लिए समाधि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। अष्टावक्र गीता १/१५ में भी कहा गया है कि आत्मा असंग, क्रिया रहित, स्वयं प्रकाश एवं निर्दोष है। इसलिए उसके लिए समाधि का अनुष्ठान नहीं हो सकता। समाधि भी बन्धन का कारण बन जाती है।

विशुद्धोऽसि समं तत्वं विदेहस्त्वमजोऽव्ययः।
जानामहि न जानामीत्यात्मानं मन्यसे कथम्॥ २४॥

अनुवाद— तू (आत्मा स्वरूप होने से) विशुद्ध, समरस, देह रहित, जन्म से रहित तथा नाश से रहित है। फिर तू यह कैसे मानता

है कि मैं आत्मा को जानता हूँ, मैं आत्मा को नहीं जानता।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने शिष्य को आत्म स्वरूप का बोध कराते हुए कहते हैं कि तू शरीर एवं मन आदि नहीं है बल्कि आत्म स्वरूप ही है जो विशुद्ध, समरस, देह रहित, जन्म-मृत्यु से रहित है तथा जिसका कभी नाश नहीं होता। जब तू इस आत्मा से पृथक है ही नहीं फिर यह कैसे मानता है कि मैं आत्मा को जानता हूँ अथवा इसे नहीं जानता। ऐसे कथन से यह ज्ञात होता है कि तू जानने वाला है तथा आत्मा जानने योग्य है। दोनों भिन्न हैं। यही तेरी भ्रान्ति है कि मैं आत्मा से भिन्न कोई अन्य जीव हूँ तभी ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु तू आत्मा से भिन्न कोई अन्य जीव है ही नहीं बल्कि स्वयं आत्मा ही है इसलिए तेरा यह कथन मिथ्या एवं भ्रान्ति पूर्ण है। इसका त्याग करके अपने को आत्मा ही जान।

तत्वमस्यादिवाक्यैश्च स्वात्मा हि प्रतिपादितः-
नेति नेति श्रुतिर्ब्रुयादनृत पांचभौतिकम्॥२५॥

अनुवाद— *और 'तत्वमसि' (यह तू ही है) आदि वाक्यों से अपने आत्मा का ही प्रतिपादन किया गया है और श्रुति 'नेति नेति' कहती है। यह पंचभौतिक मिथ्या है।*

व्याख्या—वेदों में जिस 'तत्वमसि' शब्द का प्रयोग करके कहा गया है कि जिस ब्रह्म की (परम चेतन की) अनुभूति तुझे हो रही है वह तुझसे किसी प्रकार भिन्न नहीं है बल्कि तू भी वही चैतन्य स्वरूप आत्मा है। यह जो तेरा पंचभौतिक शरीर एवं जगत जो तुझे दिखाई दे रहा है वह मिथ्या है। तू यह जड़ शरीर नहीं बल्कि चेतन आत्मा है।

आत्मन्येवात्मना सर्वं त्वया पूर्णं निरन्तरम्।
ध्याता ध्यानं न ते चित्तं निर्लज्जंध्यायते कथम्॥२६॥

अनुवाद— *तेरी आत्मा से ही सभी आत्म रूप से पूर्ण एवं*

निरन्तर है। इसलिए ध्याता और ध्यान तुम्हारे नहीं हैं फिर यह निर्लज्ज मन कैसे ध्यान करता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी फिर कहते हैं कि तेरी आत्मा सभी प्रकार से पूर्ण है एवं शाश्वत है तथा अन्य सभी उसी के कारण पूर्ण हैं। जब एक ही है तो कौन किसका ध्यान करे। ध्याता और ध्येय भिन्न है ही नहीं तो यह ध्यान तुम्हारे लिए नहीं हैं। जब इसका ज्ञान हो गया कि मैं मन नहीं आत्मा ही हूँ तो फिर यह निर्लज्ज मन कैसे ध्यान करता है। अर्थ यह है कि आत्म-ज्ञान के बाद ध्यान भी व्यर्थ हो जाता है।

शिवं न जानामि कथं वदामि,
शिवं न जानामि कथं भजामि।
अहं शिवश्चेत्परमार्थ तत्वं,
समस्वरूपं गगनोपमं च॥२७॥

अनुवाद—*मैं शिव को नहीं जानता तो कैसे उसका वर्णन करूँ, मैं शिव को नहीं जानता तो कैसे उसे भजूँ। मैं ही शिव स्वरूप एवं परमार्थ तत्व हूँ जो गगन के तुल्य और सम स्वरूप है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी इस सूत्र में ब्रह्म के वर्णन एवं भजन की व्यर्थता बताते हुए कहते हैं कि वह ब्रह्म शिव स्वरूप अर्थात कल्याण स्वरूप है किन्तु अज्ञान की स्थिति में न मैं उसे इन्द्रियों से देख सकता हूँ न बुद्धि से जान ही सकता हूँ फिर मैं किस प्रकार उसका वर्णन कर सकता हूँ तथा उसका भजन, कीर्तन एवं उसका गुणगान भी कैसे किया जा सकता है तथा अब जब मैंने जान लिया कि मैं स्वयं ही शिव रूप एवं परम तत्व हूँ जो आकाश के सदृश विस्तृत एवं सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है जो मेरे से भिन्न नहीं है तो भी उसका वर्णन एवं भजन नहीं किया जा सकता। अर्थ यही है कि ब्रह्म के ज्ञान के बिना, उसे जाने बिना भजन कीर्तन नहीं हो सकता न ज्ञान के बाद भजन कीर्तन का कोई महत्व ही है।

नाहं तत्वं समं तत्वं कल्पना हेतु वर्जितम्।
ग्राह्यग्राहकनिर्मुक्तं स्वयंवेद्यं कथं भवेत्॥२८॥

अनुवाद— *न मैं तत्व हूँ न किसी के समान तत्व हूँ, कल्पना तथा उसके हेतु से भी रहित हूँ, ग्राह्य तथा ग्राहक के व्यवहार से भी रहित हूँ, स्वयंवेद्य भी कैसे होवे।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी इसी क्रम में आत्म स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह आत्मा न तो सृष्टि से कोई भिन्न तत्व है न किसी के समान है। शास्त्रों में कहा गया है 'एकमेवाद्वितीयम्' वह एक ही है और अद्वितीय है। वैसा दूसरा कोई है ही नहीं जिसकी उससे तुलना की जा सके। यह कल्पना एवं उसके कारण से भी रहित है। न वह ग्रहण करने वाला है न ग्रहण करने योग्य है क्योंकि वही सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए उसकी स्ववेद्यता नहीं बन सकती।

अनन्तरूपं नहि वस्तु किंचित्,
तत्वस्वरूपं न हि वस्तु किंचित्।
आत्मैकरूपं परमार्थतत्वं,
न हिंसको वापि न चाप्यहिंसा॥२९॥

अनुवाद— *यह आत्मा (ब्रह्म) अनन्त रूप है ऐसी अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह ब्रह्म ही तत्व स्वरूप है, ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं है। यह आत्मा एक रूप ही है तथा परमार्थ तत्व है इसलिए न तो कोई हिंसक है न अहिंसा ही है।*

व्याख्या—यह आत्मा अनन्त रूप वाली है। सृष्टि में जितने भी रूप हैं वे सब आत्मा ही हैं, उसी के भिन्न-भिन्न रूप हैं। आत्मा से भिन्न अन्य कोई वस्तु इस जगत में नहीं है। यह ब्रह्म एक ही तत्व है, जिससे इस सृष्टि का निर्माण हुआ है, अन्य कोई तत्व नहीं है। यह परमार्थ में एक ही तत्व है जिस का सर्वत्र विस्तार है। इसलिए हिंसक और अहिंसा भी नहीं है। जिस ज्ञानी को इस एक तत्व ब्रह्म की अनुभूति

हो जाती है उसके लिए हिंसा, हिंसक एवं अहिंसा शब्द ही व्यर्थ हो जाते हैं। हिंसा और अहिंसा की बातें अज्ञानी ही करते रहते हैं जो सृष्टि में सबको भिन्न-भिन्न समझते हैं। भगवान् कृष्ण ने भी इसी अद्वैत की दृष्टि को प्रकट करते हुए अर्जुन से कहा था कि "जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा जानता है, वे दोनों ही नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है।"

(गीता २/१९)

घटे भिन्ने घटाकाशं सुखीनं भेदवर्जितम्।
शिवेन मनसा शुद्धो न भेद प्रतिभातिमे॥३०॥

अनुवाद— *घट के नाश होने पर घटाकाश महाकाश में लीन होकर भेद रहित हो जाता है (इसी प्रकार) शुद्ध मन से शुद्ध ही प्रतीत होता है। मुझे आत्मा का भेद प्रतीत नहीं होता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जिस प्रकार घट का आकाश महाकाश से भिन्न प्रतीत होता है किन्तु घट के नष्ट हो जाने पर वह घटाकाश महाकाश में ही विलीन हो जाता हं तथा दोनों का भेद ही मिट जाता है। भेद तो पहले भी नहीं था किन्तु अज्ञानी उनमें भेद समझते थे। इसी प्रकार शुद्ध मन से शुद्ध आत्मा ही प्रतीत होता है किन्तु लिंग शरीर के कारण मनुष्य को अज्ञानवश दोनों में भेद की प्रतीति होती है जिससे वह जीवात्मा को आत्मा से भिन्न समझता है। जब मन शुद्ध हो जाता है तो उसे आत्मा भी शुद्ध ही ज्ञात होता है। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मेरा मन शुद्ध हो जाने से मुझे आत्मा और जीवात्मा में भेद ज्ञात नहीं होता। शुद्ध मन ही शुद्ध आत्मा का ज्ञान कर सकता है।

न घटो न घटाकाशो न जीवो जीवविग्रहः।
केवलं ब्रह्म संविद्धि वेद्यवेदक वर्जितम्॥३१॥

अनुवाद— *न घट है, न घटाकाश है, न जीव है न उसका कोई*

विग्रह है। केवल ब्रह्म को ही सम्यक् जान जो ज्ञान तथा ज्ञाता से रहित है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि घट के कारण ही अज्ञानवश घटाकाश एवं महाकाश में भेद की प्रतीति होती है जबकि दोनों में भिन्नता नहीं है। इसी प्रकार जीव और जीवात्मा की आत्मा से भिन्न प्रतीति होती है जबकि दोनों एक ही ब्रह्म है ऐसा हे शिष्य! तू सम्यक् रूप से जान ले। जिस प्रकार घट के नष्ट होने पर महाकाश ही शेष रह जाता है उसी प्रकार अन्तःकरण के कारण जीवात्मा की जो उपाधि है वह अन्तःकरण के नष्ट होने पर जीव का जीवत्व भी नहीं रहता एक ब्रह्म ही शेष रहता है जो विषय विषयी भाव से रहित है।

सर्वत्र सर्वदा सर्वमात्मानं सतत ध्रुवम्।
सर्वं शून्यमशून्य च तन्मां विद्धि न संशयः॥३२॥

अनुवाद— तू आत्मा को सर्वत्र, सदा, सर्वरूप (सब कुछ), सतत एवं नित्य जान तथा इस समस्त जगत को शून्य जान और आत्मा को ही अशून्य जान। वह आत्मा मुझे ही जान इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी शिष्य को कहते हैं कि यह आत्मा सर्वत्र है, सर्व काल में है, सभी रूपों में है, निरन्तर एवं नित्य है ऐसा तू जान तथा यह समस्त जगत शून्य रूप है जिसकी आत्मा से भिन्न कोई सत्ता नहीं है एवं यह आत्मा ही एकमात्र अशून्य है क्योंकि इसी की एकमात्र सत्ता है इसलिए यही सत्य है। मुझे इसका ज्ञान हो गया है इसलिए मैं आत्मा ही हूँ इसमें कोई संशय नहीं है।

वेदा न लोका न सुरा न यज्ञा,
वर्णाश्रमो नैव कुलं न जातिः।
न धूतमार्गो न च दीप्तिमार्गो,
ब्रह्मैकरूपं परमार्थ तत्वम्॥३३॥

अनुवाद— *वेद भी नहीं है, लोक भी नहीं है, देवता भी नहीं है, यज्ञ भी नहीं है, वर्ण और आश्रम भी नहीं है, न कुल है, न जाति है, धूतमार्ग भी नहीं है और न अग्निमार्ग ही है। केवल एक रूप ब्रह्म ही परमार्थ तत्व है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी इस सूत्र में ज्ञान की अन्तिम भूमिका का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो ज्ञानी ज्ञान की अन्तिम भूमिका में पहुँच जाता है उसे केवल एक ब्रह्म ही सत्य स्वरूप दिखाई देता है अन्य सभी जागतिक वस्तुएँ उसे शून्य रूप प्रतीत होने लगती हैं यहाँ तक कि देवता एवं विभिन्न लोक भी उसे असत्य एवं शून्यवत् प्रतीत होते हैं।

व्याप्य व्यापकनिर्मुक्तं त्वमेकः सफलो यदि।
प्रत्यक्षं चापरोक्षं च ह्यात्मानं मन्यसे कथम्॥३४॥

अनुवाद— *यदि तू एक ही, फल के सहित है और व्याप्त व्यापक भाव से रहित है तू प्रत्यक्ष और अपरोक्ष आत्मा को कैसे मानता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने शिष्य को कहते हैं कि तू यह मानता है कि यह आत्मा एक ही है तथा यही जीवन का अन्तिम फल है। इसके लिए व्याप्त एवं व्यापक शब्द का प्रयोग भी उचित नहीं है क्योंकि एक में व्याप्य और व्यापक शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। फिर तू इसको प्रत्यक्ष और अपरोक्ष कैसे मानता है। प्रत्यक्ष और अपरोक्ष कहने में भी द्वैत की ही अनुभूति होती है जबकि आत्मा द्वैत रहित है।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैत विवर्जितम्॥३५॥

अनुवाद— *कुछ अद्वैत की इच्छा करते हैं और कुछ द्वैत की इच्छा करते हैं किन्तु वे समतत्व को नहीं जानते जो द्वैत और अद्वैत से रहित है।*

व्याख्या—कुछ लोग अद्वैत की इच्छा करते हैं। वे जीव और ब्रह्म को भिन्न नहीं मानते तथा कुछ इन्हें भिन्न मान कर द्वैत की इच्छा करते हैं। वे जीव को ईश्वर के अधीन मानते हैं। किन्तु दत्तात्रेय जी कहते हैं द्वैत और अद्वैत की भावना मनुष्य द्वारा आरोपित की गई है। द्वैत होने पर ही अद्वैत की बात कही जा सकती है। जब द्वैत है ही नहीं तथा वही एक तत्व समान रूप से सर्वत्र व्याप्त है फिर उसे द्वैत अथवा अद्वैत कैसे कहा जा सकता है। वह इन दोनों से परे है तथा एक ही है।

श्वेतादिवर्णरहितं शब्दादिगुणवर्जितम्।
कथयन्ति कथं तत्वं मनोवाचामगोचरम्॥३६॥

अनुवाद—*जो सफेद आदि वर्णों से रहित है, शब्दादि गुणों से भी रहित है, जो मन और वाणी का विषय ही नहीं है उसे तत्व किस प्रकार कहा जा सकता है।*

व्याख्या—कई विद्वान ब्रह्म के लिए 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है जो सृष्टि का कारण है किन्तु दत्तात्रेय जी कहते हैं कि तत्व उसे कहा जाता है जिसका सफेद, काला आदि कोई रंग हो, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि कोई गुण हो, जिसे जाना जा सके, जिसका वर्णन किया जा सके, जिसे देखा जा सके आदि किन्तु यह ब्रह्म ऐसा है जो मन, वाणी एवं आँखों का विषय ही नहीं है, न इसका कोई रंग रूप एवं गुण है जिससे इसको जाना जाए। इसलिए इसके लिए तत्व शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

यदाऽनृतामिदं सर्वं देहादि गगनोपमम्।
तदा ही ब्रह्म संवेत्ति न दे द्वैत परम्परा॥३७॥

अनुवाद—*जिस समय यह सम्पूर्ण दृश्य जगत मिथ्या ज्ञात होने लगे तथा ये शरीर आदि आकाश के समान शून्य जान पड़े तभी ब्रह्म को ठीक प्रकार से जाना जाता है। उस समय तुझे द्वैत परम्परा*

का भान नहीं होगा।

व्याख्या—आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म की अनुभूति से पूर्व इस सृष्टि में सर्वत्र द्वैत दिखाई देता है। सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं यहाँ तक कि जीव और ब्रह्म में भी भिन्नता ज्ञात होती है। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्म-ज्ञान के बाद ही मनुष्य को ज्ञात होता है कि यह सम्पूर्ण जगत मिथ्या है केवल एक ब्रह्म ही सत्य है। यह सृष्टि उसी का विस्तार मात्र है, उससे किसी प्रकार भिन्न नहीं है। भिन्नता की सारी कल्पना ही अज्ञान के कारण है जो ज्ञान प्राप्ति पर नष्ट हो जाती है जिससे यह सृष्टि मिथ्या ज्ञात होने लगती है तथा शरीर का भी पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है वह भी आकाशवत् शून्य ज्ञात होने लगता है। इसी अवस्था में कहा जा सकता है कि उसे ब्रह्म का वास्तविक ज्ञान हो गया है तथा इस ज्ञान के बाद ही जगत में दिखाई देने वाली समस्त द्वैत की धारणा व परम्परा का अन्त हो जाता है। इससे पूर्व द्वैत ही दिखाई देता है।

परेण सहजात्मापि ह्यभिन्नःप्रतिभाति मे।
व्योमाकार तथैवेकं ध्याता ध्यानं कथं भवेत्॥३८॥

अनुवाद—*मुझे यह भान हो रहा है कि यह अनादि आत्मा परब्रह्म से भिन्न नहीं है जो आकाश के समान व्यापक एवं एक ही है तो फिर ध्याता और ध्यान कैसे हो सकता है।*

व्याख्या—ध्यान तभी किया जा सकता है जब ध्यान करने वाला तथा जिसका ध्यान किया जाता है वह भिन्न हो। ध्यान किसी साकार का स्वयं से भिन्न मानकर ही किया जाता है किन्तु निराकार का ध्यान सम्भव नहीं है। अपनी चित्त की वृत्तियों को रोककर सभी प्रकार की चेष्टाओं से मुक्त होकर स्थित रहना ही ध्यान है। इसी से आत्मानुभूति होती है तथा आत्मानुभूति के बाद ही साधक को जीव और ब्रह्म की एकता का अनुभव होता है। दत्तात्रेय जी ज्ञान को उपलब्ध होने के बाद ही कहते हैं कि यह आत्मा अनादि है तथा यह ब्रह्म से किसी प्रकार

भिन्न नहीं है। यह ब्रह्म के समान ही सर्वव्यापक है तथा एक ही है। समस्त सृष्टि का विस्तार है। आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं। ये आत्माएँ अनेक नहीं हैं न ब्रह्म से भिन्न ही है जिससे आत्मा ब्रह्म का ध्यान करे यह मिथ्या है इसलिए मेरे लिए ध्यान व्यर्थ हो गया है न मैं ध्याता ही हो सकता हूँ।

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।
एतत्सर्वं न ये किंचिद्विशुद्धोऽहमजोऽव्ययः॥३९॥

अनुवाद— जो मैं करता हूँ, जो मैं भक्षण करता हूँ, जो मैं हवन करता हूँ, जो मैं देता हूँ वह सब किंचिद् भी मेरा नहीं है। मैं विशुद्ध, जन्म रहित एवं नाश रहित हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं विशुद्ध, जन्म रहित एवं नाश रहित आत्मा हूँ जो न कुछ करता है, न खाता है, न हवन करता है, न देता है, न लेता है। इसलिए ये सभी कर्म मेरे नहीं हैं। ये मन एवं इन्द्रियों के धर्म हैं जो इनसे स्वभाव वश हो रहे हैं। मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं शरीर, मन, इन्द्रियों आदि से भिन्न हूँ।

सर्वं जगद्विद्धि निराकृतीदं,
सर्वं जगद्विद्धि विकारहीनम्।
सर्वं जगद्विद्धि विशुद्ध देहं,
सर्वं जगद्विद्धि शिवैकपरूम्॥४०॥

अनुवाद— इस सम्पूर्ण जगत को तू आकार रहित जान, इस सम्पूर्ण जगत को तू विकार रहित जान, इस सम्पूर्ण जगत को तू विशुद्ध ब्रह्म का शरीर जान, इस सम्पूर्ण जगत को तू कल्याण स्वरूप जान।

व्याख्या—वेंदान्त की अद्वैत की मान्यतानुसार यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इसमें जो आकार एवं विकार दिखाई देते हैं वह

मन की कल्पना मात्र है। वस्तुतः यह ब्रह्म की ही भाँति निराकार 'बिना आकार वाला', विकारों से रहित है। यह ब्रह्म का ही शरीर मात्र है इसलिए यह ब्रह्म के समान ही कल्याण स्वरूप है। जगत किसी को दुःख नहीं देता। मनुष्य के अज्ञान के कारण इसे ठीक प्रकार से न समझने के कारण तथा इसकी प्रकृति से विपरीत जाने के कारण ही उसे दुःख होता है अन्यथा यह तो कल्याण स्वरूप ही है।

तत्वं त्वं हि न संदेहः किं जानाम्यत्र वा पुनः।
असंवेद्यं स्वसंवेद्यंमात्मानं मन्यसे कथम्॥४१॥

अनुवाद— *वह तू ही है तथा तू वही है इसमें कोई सन्देह नहीं है फिर और मैं क्या जानूँ। फिर आत्मा को असंवेद्य 'किसी से भी जानने योग्य नहीं' तथा स्वसंवेद्य 'अपने से ही जानने योग्य' कैसे माना जाए।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैंने यह स्पष्ट रूप जान लिया है कि वह ब्रह्म तू ही है तथा तू स्वयं ब्रह्म ही इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। फिर मैं और क्या जानूँ जानने को कुछ भी शेष नहीं रहा। जो सारभूत था वह जान लिया। अब मैं यह नहीं कह सकता कि वह जानने योग्य नहीं है क्योंकि मैंने उसे जान लिया है तथा मैं यह भी नहीं कह सकता कि वह अपने से ही जाननें योग्य है। जब मेरा ब्रह्म से भिन्न कोई अस्तित्व ही नहीं है तो मैं अपने को जानने वाला कैसे कह सकता हूँ। ज्ञान प्राप्ति के बाद ज्ञाता और ज्ञेय की भिन्नता ही समाप्त हो जाती है।

मायाऽमाया कथं तात छायाऽच्छाया न विद्यते।
तत्वमेकमिदं सर्पं व्योमाकारं निरंजनम्॥४२॥

अनुवाद— *हे तात! माया और अमाया कैसे है, छाया और अछाया भी विद्यमान नहीं है। यह तू एक ही है तथा यह सम्पूर्ण जगत आकाश के समान व्यापक एवं निर्दोष है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी फिर शिष्य को कहते हैं कि हे तात! तू एक ही ब्रह्म है तथा यह सम्पूर्ण जगत आकाश के समान आकार वाला एवं निर्दोष है फिर इसमें माया और अमाया अर्थात प्रकृति और पुरुष तथा छाया और धूप का भेद कैसे हो सकता है। समस्त भेद अज्ञान के ही कारण ज्ञात होते हैं। आत्मा भेद रहित है।

आदिमध्यान्तयुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन।
स्वभावनिर्मलः शुद्धः इति मे निश्चिता मतिः ॥४३॥

अनुवाद— *मैं आदि, मध्य और अन्त से रहित हूँ, न मैं कभी बद्ध ही हूँ। मेरी यह निश्चित मति है कि मैं स्वभाव से ही निर्मल और शुद्ध हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि ब्रह्म का कोई आदि, मध्य व अन्त नहीं है। न वह कभी उत्पन्न हुआ है न उसका नाश ही होता है। मैं स्वयं आत्म स्वरूप होने से ब्रह्म ही हूँ इसलिए मेरा भी आदि, मध्य और अन्त नहीं है। मैं सदा से हूँ तथा सदा ही रहूँगा। एक ही होने से मेरा कोई बन्धन भी नहीं है इसलिए मैं मुक्ति की बात भी नहीं कहता। मेरा यह निश्चय है कि मैं ब्रह्म की ही भाँति स्वभाव से ही निर्मल एवं शुद्ध हूँ। मेरे में कोई विकार है ही नहीं।

महदादि जगत्सर्वं न किंचिंत्प्रतिभाति मे।
ब्रह्मैव केवलं सर्पं कथं वर्णाश्रमस्थितिः ॥४४॥

अनुवाद— *महतत्व आदि से इस सम्पूर्ण जगत का मुझे थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं होता। केवल ब्रह्म ही सब कुछ है फिर वर्णाश्रम की स्थिति किस प्रकार हो सकती है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में सर्व प्रथम महतत्व की उत्पत्ति प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से हुई। इसके बांद उसी से समस्त जड़ एवं चेतन सृष्टि का निर्माण हुआ जो अनेक रूपों में

दिखाई देती है किन्तु मुझे इन विभिन्नताओं का थोड़ा सा भी भान नहीं होता क्योंकि सब उसी एक ब्रह्म का विस्तार है। जिस प्रकार स्वर्णकार को विभिन्न प्रकार के आभूषणों में केवल स्वर्ण ही दिखाई देता है उसी प्रकार मुझे इन विभिन्न पदार्थों में केवल एक ब्रह्म ही दिखाई देता है। वर्ण एवं आश्रमों की स्थिति का भी मुझे भान नहीं होता क्योंकि मैं सभी प्राणियों में एकमात्र आत्मा ही देखता हूँ। ये विभाग शरीर एवं मन को लेकर है जिसका मेरे से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जानामि सर्वथा सर्वमहमेको निरन्तरम्।
निरालम्बं शून्यं च शून्यं व्योमादि पंचकम्॥४५॥

अनुवाद— *मैं जानता हूँ कि ये आकाशादि पंचक (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) शून्य है तथा मैं सब प्रकार से सर्वरूप एक ही निरन्तर, आलम्बन रहित एवं अशून्य हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के बाद मुझे ज्ञात हो गया कि ये पंचभूत शून्यवत् है जिनकी अपनी स्वयं की कोई सत्ता नहीं है। मैं ब्रह्म स्वरूप होने से केवल इस जगत में सर्वरूप हूँ, एक ही हूँ, सदा रहने वाला हूँ तथा आलम्बन रहित हूँ। मेरा कोई आलम्बन नहीं है तथा इस सृष्टि में मैं ही एकमात्र सत्ता स्वरूप सत्य तत्व हूँ। अन्य सभी मेरी ही अनुकृतियाँ मात्र हैं जो भ्रमवश सत्य प्रतीत होती हैं।

न षण्ढो न पुमान्न स्त्री न बोधो न कल्पना।
सानन्दो वा निरानन्दमात्मानं मन्यसे कथम्॥४६॥

अनुवाद— *आत्मा न नपुन्सक है, न पुरुष है, न स्त्री है, न ज्ञान है, न कल्पना ही है। यह आनन्दमय एवं निरानन्द भी नहीं है। फिर तुम आत्मा को किस प्रकार का मानते हो।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी शिष्य से प्रश्न करते हैं कि हे शिष्य! यह आत्मा पुरुष भी नहीं है न यह स्त्री ही है, यह नपुंसक भी नहीं है। यह

ज्ञान एवं कल्पना भी नहीं है बल्कि एक ही सबका साक्षी मात्र है। यह आनन्दमय एवं निरानन्द भी नहीं है। ऐसी स्थिति में तुम्हारी आत्मा के प्रति किसी प्रकार की मान्यता है। यदि तुम उसे उपर्युक्त गुण धर्म वाली मानते हो तो इसका अर्थ है तुम्हें अभी आत्मा का ज्ञान हुआ नहीं। तुम भ्रम में हो। आत्मा सभी गुणों एवं उपाधियों से रहित केवल चैतन्य सत्ता मात्र है।

षडंगयोगान्न तु नैव शुद्धं,
मनोविनाशान्न तु नैव शुद्धम्।
गुरुपदेशान्न तु नैव शुद्धं,
स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव शुद्धम्॥४७॥

अनुवाद— आत्मा षडंग योग से शुद्ध नहीं होता, मन के नाश होने से भी शुद्ध नहीं होता, गुरु के उपदेश से भी शुद्ध नहीं होता। वह स्वयं ही सार तत्व है और स्वयं ही शुद्ध है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मा स्वयं सार तत्व है वह सदा सर्वदा ही शुद्ध है। उसमें कोई विकार है ही नहीं, वह कभी दूषित हो ही नहीं सकता। इसलिए जो आत्मा को शुद्ध करने के लिए षडंग योग (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये षडंग योग कहलाते हैं) की साधना करने की बात कहते हैं, जो मन के विनाश की बात कहते हैं तथा जो कहते हैं कि गुरु के उपदेश से वह शुद्ध होती है ये सब गलत कहते हैं क्योंकि वह दूषित हुई ही नहीं है फिर किसे शुद्ध किया जाए। अशुद्ध मन होता है, जो कई प्रकार के विकारों वाला है, उसे शुद्ध करना है, उसी का निरोध करना है जिससे आत्मा का स्वरूप पहचाना जा सके। पतंजलि ने भी चित्त की वृत्तियों के निरोध की बात कही है। आत्म शुद्ध की बात कहीं नहीं कही गई है। (इस लेखक की पातंजल योगसूत्र (योग दर्शन) की व्याख्या भी पढ़ें)।

नहिं पंचात्मकोदेहो विदेहो वर्तते न हि।
आत्मैव केवलं सर्वं तुरीयं च त्रयं कथम्॥४८॥

अनुवाद—*आत्मा पंचभौतिक शरीर भी नहीं है तथा देह से रहित भी नहीं वर्तता है। आत्मा ही केवल और सर्व रूप है फिर इसकी तुरीय और तीन अवस्थाएँ कैसे हैं।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह आत्मा पंचभौतिक शरीर नहीं है क्योंकि यह शरीर जड़ पदार्थों से निर्मित है किन्तु यह बिना शरीर वाला भी नहीं है क्योंकि यह सम्पूर्ण शरीरों में व्याप्त है। ये समस्त दृश्य पदार्थ उसी के शरीर हैं जिनके भीतर वह अवस्थित है। यह आत्मा एक ही तथा सर्वरूप है, सभी रूप उसी के हैं। ये चार अवस्थाएँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय आत्मा की अवस्थाएँ नहीं हैं बल्कि ये मन की ही अवस्थाएँ हैं।

न बद्धो नैव मुक्तोऽहं न चाहं ब्रह्मणः पृथक्।
न कर्ता न च भोक्ताहं व्याप्य व्यापक वर्जितः॥४९॥

अनुवाद—*मैं बद्ध भी नहीं हूँ, न मुक्त ही हूँ, मैं ब्रह्म से भिन्न भी नहीं हूँ, न मैं कर्ता हूँ और न भोक्ता हूँ। मैं व्याप्य और व्यापक भाव से भी रहित हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्म स्वरूप होने से ब्रह्म से किसी प्रकार भिन्न नहीं हूँ इसलिए मेरा कोई बन्धन नहीं है क्योंकि ब्रह्म एक ही है तो बन्धन का कोई दूसरा कारण कैसे हो सकता है और जब बन्धन ही नहीं है तो मुक्ति की बात कैसे कही जा सकती है। मुक्ति के लिए बन्ध का होना अनिवार्य है अन्यथा मुक्ति की बात ही नहीं होती। चूँकि ब्रह्म न कर्ता और न भोक्ता इसलिए मैं भी कर्ता और भोक्ता नहीं हूँ। जब ब्रह्म व्याप्त एवं व्यापक भाव से रहित है इसलिए मैं भी इससे रहित हूँ। इस प्रकार मैं सब प्रकार से निरपेक्ष हूँ।

यथा जलं जले न्यस्तं सलिलं भेद वर्जितम्।
प्रकृतिं पुरुषं तद्वदभिन्नं प्रतिभाति मे॥५०॥

अनुवाद— *जिस प्रकार जल में फेंका हुआ जल जलरूप ही भेद रहित हो जाता है वैसे ही प्रकृति और पुरुष मुझे अभिन्न प्रतीत होते हैं।*

व्याख्या—शास्त्रों में सृष्टि रचना में प्रकृति और पुरुष नाम की दो शक्तियों को महत्त्वपूर्ण माना है। प्रकृति जड़ है तथा पुरुष चेतन है, प्रकृति उपादान कारण है तथा पुरुष निमित्त कारण है। दोनों के संयोग से ही सृष्टि रचना का कार्य आरम्भ होता है। किन्तु दत्तात्रेय जी कहते हैं कि ये दोनों ही उस परब्रह्म की ही दो शक्तियाँ हैं जो उससे किसी प्रकार भिन्न नहीं है। पुरुष शक्तिमान है तथा प्रकृति उसी की शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान भिन्न नहीं हो सकते। शक्ति जड़ है तथा शक्तिमान चैतन्य है। शक्ति शक्तिमान के अधीन ही कार्य करती है। जिस प्रकार जल में फेंका हुआ जल जलरूप ही हो जाता है, उसकी भिन्नता मिट जाती है उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष एक ही ब्रह्म में मिलकर भेद रहित हो जाते हैं ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा है। जिसे ब्रह्मज्ञान नहीं होता उन्हीं को इनमें भेद दिखाई देता है।

यदि नाम न मुक्तोऽसि न बद्धोऽसि कदाचन।
साकारं च निराकारमात्मानं मन्यसे कथम्॥५१॥

अनुवाद— *यदि ऐसा प्रसिद्ध है कि तू मुक्त भी नहीं है और बद्ध भी नहीं है तो फिर आत्मा को साकार और निराकार किस प्रकार मानता है।*

व्याख्या—बन्धन और मुक्ति में दो का होना अनिवार्य है, एक बन्धन तथा दूसरा बँधने वाला। किन्तु तू यह मानता है कि बन्धन और मुक्ति नहीं है जैसा तूने जाना है कि ब्रह्म एक ही है, दूसरा कुछ है ही नहीं इसलिए बन्धन और मुक्ति भी नहीं है तो फिर साकार और निराकार

को दो किस प्रकार मानता है अर्थात बन्धन और मुक्ति तथा साकार और निराकार का भेद अज्ञानावस्था में ही प्रतीत होता है। ज्ञानी की अभेद दृष्टि हो जाती है। वह सम्पूर्ण जगत में एक ब्रह्म को ही सत्ता स्वरूप जानता है।

जानामि ते परं रूपं प्रत्यक्षं गगनोपमम्।
यथा परं हि रूपं यन्मरीचिजल सन्निभम्॥५२॥

अनुवाद—*मैं तेरे परम रूप को जानता हूँ जो प्रत्यक्ष और आकाश के सदृश है। जिस प्रकार जगत का रूप मृगतृष्णा के जल की तरह है वैसा तुम्हारा नहीं है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी शिष्य को उपदेश करते हुए कहते हैं कि हे शिष्य! तुम्हारे इस परम रूप को मैं जानता हूँ जो ब्रह्म स्वरूप ही है। यह प्रत्यक्ष और आकाश के समान व्यापक है तथा जिस प्रकार जगत का स्वरूप वास्तविक नहीं है, वह मृगतृष्णा के जल के समान भ्रान्ति रूप ही है जिससे किसी की प्यास नहीं बुझती वैसा तुम्हारा स्वरूप नहीं है। अज्ञान के कारण ही तुझे स्वयं की ब्रह्म से भिन्नता ज्ञात होती है। तू जगत के समान भ्रान्ति रूप नहीं है।

न गुरुर्नोपदेशश्च न चोपाधिर्न मे क्रिया।
विदेहं गगनं विद्धि विशुद्धोऽहं स्वभावतः॥५३॥

अनुवाद—*न तो मेरा कोई गुरु है, न उपदेश ही है, न उपाधि है, न क्रिया है। मुझे तू देह से रहित आकाशवत् जान। मैं स्वभाव से ही शुद्ध हूँ।*

व्याख्या—गुरु और शिष्य का भेद भी अज्ञान में ही ज्ञात होता है। ज्ञान प्राप्ति के बाद यह भेद भी मिट जाता है। स्वयं का आत्मा ही एकमात्र गुरु है जिसे जानकर ही व्यक्ति गुरुत्व को प्राप्त होता है। किसी एक को गुरु मान लेने से शिष्य उसी से बँध जाता हे। उसकी मूढ़ता पूर्ण

बातों को ही वह सत्य मानने का दुराग्रह करता है इसी से साम्प्रदायिक संकीर्णता उत्पन्न होती है। अज्ञानावस्था में जिस किसी से ज्ञान मिले वही उसका गुरु हो जाता है। इसलिए ज्ञान प्राप्ति में किसी गुरु विशेष का इतना महत्व नहीं है जितना शिष्य की ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा एवं उसका मुमुक्षुत्व महत्वपूर्ण है। यही शिष्य की पात्रता है तथा ऐसा शिष्य ही ज्ञान का अधिकारी होता है। गुरु तो निमित्त मात्र होता है। योग वाशिष्ठ में कहा गया है, ''वास्तव में आत्मा शास्त्र द्वारा नहीं जाना जाता, न गुरु के वचन द्वारा। वह तो अपने अनुभव द्वारा ही जाना जाता है।'' (योग वाशिष्ठ ६/१/४१/७५) ज्ञान प्राप्ति के बाद स्वयं की आत्मा ही उसका गुरु होता है। इसलिए दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं स्वयं आत्म स्वरूप हूँ इसलिए अब मेरा न कोई गुरु है, न कोई उपदेश ही है, न मेरी कोई विशेष उपाधि ही है। मुझे अब किसी क्रिया की भी आवश्यकता नहीं है। मैं देह से रहित, आकाशवत् व्यापक आत्मा हूँ जो स्वभाव से ही शुद्ध है। जब मेरे में कोई अशुद्धि ही नहीं है तो फिर गुरु, उपदेश, क्रिया आदि की आवश्यकता ही क्या है। मैं इन सबसे रहित हूँ।

विशुद्धोऽस्यशरीरोऽसि न ते चित्तं परात्परम्।
अहं चात्मा परं तत्त्वमिति वक्तुं न लज्जते॥५४॥

अनुवाद— *तू विशुद्ध है शरीर से रहित है, तू चित्त भी नहीं है परात्पर है (प्रकृति से भी परे है)। मैं आत्मा हूँ, परम तत्व हूँ, इस प्रकार कहने में तुझे लज्जा नहीं आती है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी शिष्य को कहते हैं कि तू शरीर, चित्त एवं प्रकृति से भी परे विशुद्ध आत्मा है किन्तु इसका कथन नहीं किया जा सकता है कि मैं आत्मा हूँ, परम तत्व हूँ, माया से रहित हूँ। क्योंकि ऐसा कहने से भी भिन्नता की ही प्रतीति होती है कि तू शरीर, चित्त आदि भी है जिसको न मानकर अपने को आत्मा मानता है। अद्वैत में ऐसा कथन नहीं बनता क्योंकि दूसरा कुछ है ही नहीं।

कथं रोदिषि रे चित्त ह्यात्मैकत्मात्मना भव।
पिब वत्स कलातीतमद्वैतं परमामृतम्॥५५॥

अनुवाद— *हे चित्त! तू क्यों रूदन करता है। निश्चय ही तू आत्म रूप है। यह मानकर स्वयं आत्म-स्वरूप हो जा तथा हे वत्स! तू कला से अतीत अद्वैत रूपी परम अमृत का पान कर।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने शिष्य के चित्त को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे चित्त! तेरा जो विकृत स्वरूप था वह नष्ट हो गया जिससे तू व्यर्थ में रूदन कर रहा है। अब तुझे शुद्ध चित्त प्राप्त हो गया है तथा यह शुद्ध चित्त ही आत्म-स्वरूप है। ऐसा मानकर तू इस भ्रान्ति का त्याग करके कि मैं चित्त हूँ आत्म-स्वरूप हो जा तथा कला से भी अतीत यह ब्रह्म ही है, अन्य कुछ भी नहीं है, इस अद्वैत रूपी परम अमृत का तू पान कर। इस सूत्र में गूढ़ रहस्य छिपा है कि ब्रह्म कोई देखने की वस्तु नहीं है, न अद्वैत की कोई प्रत्यक्ष अनुभूति होती है बल्कि साधना अथवा अन्य कारणों से जब मन पूर्णतया शुद्ध एवं निर्मल हो जाता है तो गुरु शिष्य को यह अनुभव कराता है कि यह शुद्ध मन ही आत्मा है, यही ब्रह्म है, इससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसी स्थिति में गुरु शिष्य को 'तत्त्वमसि' 'यह तू ही है' का उपदेश देता है जिससे शिष्य की समस्त भ्रान्तियों का निराकरण होकर उसकी अद्वैत में प्रतिष्ठा होती है। यही महावाक्य है जिससे शिष्य का पूर्ण रूपांतरण हो जाता है। गुरु के इस उपदेश के बिना शिष्य की द्वैत की भ्रान्ति बनी ही रहती है।

नैव बोधो न चाबोधो न बोधाबोध एव च।
यस्येदृशःसदा बोधः स बोधो नान्यथा भवेत्॥५६॥

अनुवाद— *न तो तू ज्ञान है और न अज्ञान ही है, न ज्ञान एवं अज्ञान का संयुक्त रूप ही है। जिसे इस प्रकार का सदा ज्ञान है वह ज्ञान स्वरूप ही है। वह हमसे भिन्न नहीं होता।*

व्याख्या—ज्ञान की धारणा अज्ञान के ही सापेक्ष होती है। आत्मा

स्वयं ज्ञान स्वरूप ही है उसमें अज्ञान जैसी कोई वस्तु है ही नहीं इसलिए उसके लिए ज्ञान एवं अज्ञान का प्रयोग नहीं किया जा सकता तथा उसे ज्ञान अज्ञान रूप भी नहीं कहा जा सकता। जिस व्यक्ति को इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है कि यह आत्मा सर्वकाल में ज्ञान स्वरूप ही है, उससे भिन्न किसी प्रकार नहीं है वह पुरुष ज्ञान स्वरूप ही है।

ज्ञानं न तर्को न समाधि योगो,
न देशकालौ न गुरुपदेशः।
स्वभावसंवित्तिरहं च तत्त्व,
माकाशकल्पं सहजं ध्रुवं च॥५७॥

अनुवाद—*मैं ज्ञान नहीं हूँ, तर्क नहीं हूँ, समाधि योग भी नहीं हूं, न देश, काल और गुरु का उपदेश ही हूँ। मैं स्वभाव से ही ज्ञान स्वरूप, यथार्थ वस्तु, आकाश के समान व्यापक और स्वभाव से ही नित्य भी हूँ।*

व्याख्या—आत्मा किसी ज्ञान का प्रतिफल नहीं है, न किसी तर्क अथवा समाधियोग का ही प्रतिफल है। यह देश, काल अथवा गुरु के उपदेश का भी प्रतिफल नहीं है कि इन साधनों से उसे जाना जाए। वह स्वयं ज्ञान स्वरूप है, यथार्थ एवं सत्य वस्तु है जो आकाश के समान व्यापक है तथा नित्य है। उसका ज्ञान किसी साधन से प्राप्त नहीं किया जा सकता बल्कि सभी ज्ञान उसी के कारण हैं। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं वही आत्मा हूँ जो ज्ञान स्वरूप है।

न जातोऽहं मृतोवापि न मे कर्म शुभाशुभम्।
विशुद्धं निर्गुणं ब्रह्म बन्धो मुक्तिः कथं मम॥५८॥

अनुवाद—*न मैं उत्पन्न हुआ हूँ, न मेरी मृत्यु ही है। ये शुभ एवं अशुर्भ कर्म भी मेरे नहीं हैं। मैं शुद्ध निर्गुण ब्रह्म हूँ। मेरे बन्धन और मुक्ति कैसे कैसे हो सकती है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा हूँ, शरीर, मन आदि नहीं हूँ। आत्मा का न जन्म होता है, न मृत्यु इसलिए मैं भी जन्म और मृत्यु से रहित हूँ। जन्म एवं मृत्यु केवल शरीर की होती है और मैं शरीर नहीं हूँ इसलिए मेरा जन्म व मृत्यु नहीं है। शुभ अथवा अशुभ कर्म भी मन से होते हैं किन्तु मैं मन नहीं हूँ इसलिए ये कर्म मेरे नहीं है। मैं शुद्ध निर्गुण ब्रह्म हूँ जो अजर, अमर, नित्य, शाश्वत एवं अकर्ता है तथा बन्धनों से मुक्त है इसलिए ये गुण ही मेरे धर्म हैं। मैं बन्धन और मुक्ति से रहित हूँ।

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अन्तरं हि न पश्यामि स बाह्याभ्यन्तर कथम्॥५९॥

अनुवाद— *जब यह आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, कभी चलायमान नहीं होता, पूर्ण है, एकरस है तो मैं इसे शरीर के भीतर ही नहीं देखता बल्कि वह बाहर और भीतर सर्वत्र है, उसे कैसे न देखूँ।*

व्याख्या—यह आत्मा चूंकि सर्वत्र है, कभी चलायमान नहीं होता, पूर्ण है, एक़रस है। यह शरीर के भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है फिर मैं इसे ध्यान एवं समाधि द्वारा भीतर ही क्यों देखूँ। यह समस्त सृष्टि ही ब्रह्म है, उसी का रूप है फिर मैं बाहर उसे क्यों न देखूँ। दत्तात्रेय जी ज्ञान को उपलब्ध हो गये इसलिए वे समस्त सृष्टि को ही आत्म-स्वरूप समझ कर उसे देखने की बात कह रहे हैं। 'आत्मवत् सर्व भूतानि'— यह सम्पूर्ण सृष्टि आत्मवत् ही है। यही ज्ञानी की दृष्टि है। अज्ञानी ही इसे शरीर के भीतर खोजता है। ज्ञानी समस्त सृष्टि में ही आत्मा देखता है।

स्फुरत्येव जगत्कृत्स्नमखण्डित निरन्तरम्।
अहो मायामहामोहौ द्वैताद्वैत विकल्पना॥६०॥

अनुवाद— *निश्चय ही इस सम्पूर्ण जगत का अखण्डित एवं*

निरन्तर रूप में स्फुरण हो रहा है। खेद है कि माया और महामोह द्वैत और अद्वैत की कल्पना का भी स्फुरण होता है।

व्याख्या—एक ही ब्रह्म सर्वव्याप्त है तथा यह सम्पूर्ण जगत उसी का स्फुरण मात्र है जो अखण्ड एवं निरन्तर रूप से स्फुरित हो रहा है। जिस प्रकार वर्षा की बूँदों में सूर्य के प्रकाश से इन्द्रधनुष दिखाई देता है उसी प्रकार ब्रह्म के प्रकाश से यह जगत दिखाई देता है उसी प्रकार यह माया 'प्रकृति' तथा महामोह, द्वैत और अद्वैत नहीं होते हुए भी दिखाई देते हैं। अत: ये सभी भ्रम मात्र है।

साकारं च निराकारं नेति नेतीति सर्वदा।
भेदाभेद विनुर्मुक्तो वर्तते केवलः शिवः॥६१॥

अनुवाद— श्रुति सर्वदा ही साकार और निराकार को 'नेति, नेति' (यह सब नहीं है, यह सब नहीं है) कहती है। यह ब्रह्म भेद और अभेद से रहित केवल शिव (कल्याण रूप) ही वर्तता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि श्रुति सदा से ही इस बात का निषेध करती रही है कि यह सम्पूर्ण स्थूल एवं सूक्ष्म जगत, साकार और निराकार जगत ब्रह्म में नहीं है अर्थात यह ब्रह्म से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। ब्रह्म भेद एवं अभेद से रहित ही सर्वत्र व्याप्त है। ब्रह्म के ज्ञान के अभाव में ही सर्वत्र भेद दिखाई देता है जिससे जगत एवं ब्रह्म को भिन्न माना जाता है तथा भेद की कल्पना से ही उसे अभेद कहा जाता है। जब भेद है ही नहीं तो अभेद कहना भी मिथ्या ही है। वह भेद और अभेद से रहित केवल शिव है।

न ते च माता च पिता न बन्धुर्न
ते च पत्नी न सुतस्य मित्रम्।
न पक्षपातो न विपक्षपातः
कथं हिं संपप्तिदियं हि चित्ते॥६२॥

अनुवाद— *न तो तेरी माता है, न पिता है, न बन्धु है और न पत्नी है, न पुत्र है, न मित्र है, न पक्षपाती है न विपक्षी है। फिर चित्त में यह सन्ताप कैसे करते हो।*

व्याख्या—माता, पिता, बन्धु, पत्नी आदि के सभी सम्बन्ध जो संसार में हैं ये सब मन 'चित्त' के कारण हैं। मन में चूँकि आसक्ति है, मोह है, कुछ पाने की इच्छा है, कुछ भोगने की इच्छा है इसलिए ये सभी सम्बन्ध निर्मित किये जाते हैं। इन सम्बन्धों के निर्माण से पूर्व इनको पहचाना भी नहीं जा सकता कि ये कौन हैं, न इनसे पूर्व जन्म में कोई सम्बन्ध था न आगे के जन्म में रहेगा। ये सम्बन्ध न तो स्थाई है न शाश्वत। हर जन्म में बदल जाते हैं तथा कई बन्धन तो इसी जन्म में बनते व बिगड़ते रहते हैं। मृत्यु पर तो निश्चित रूप से छूट ही जाते हैं। इसलिए ऐसे सम्बन्ध केवल क्षणिक ही होते हैं जिसे ज्ञानी कोई महत्व नहीं देता। वह इन सम्बन्धों के होने से न प्रसन्न होता है न इनके टूटने से वह सन्ताप ही करता है क्योंकि इनमें उसकी कोई आसक्ति नहीं होती न इनसे उसकी किसी प्रकार की अपेक्षाएँ होती हैं। अज्ञानी ही इनके कारण दुःखी होते हैं व सन्ताप करते हैं। यह सन्ताप मन के कारण होता है। चेतन आत्मा में सन्ताप नहीं होता।

दिवानक्तं न ते चित्ते उदयास्तमयौ न हि।
विदेहस्य शरीरत्वं कल्पयन्ति कथं बुधाः ॥६३॥

अनुवाद— *तेरे चेतन में दिन और रात्रि नहीं है न उदय और अस्त ही है। जो विदेह है (जिसका कोई शरीर नहीं है) उसमें बुद्धिमान लोग शरीर की कैसे कल्पना करते हैं।*

व्याख्या—यह चेतन आत्मा स्वयं प्रकाशित है। इसको किसी अन्य प्रकार की आवश्यकता नहीं है बल्कि सभी उसी से प्रकाशवान् है। उसमें दिन और रात्रि होती ही नहीं न उसका कभी उदय और अस्त ही होता है। वह निरन्तर प्रकाशित रहता हैं। वह स्वयं विदेह है जिसका

कोई विशेष शरीर नहीं है। इसलिए दत्तात्रेय जी कहते हैं कि बुद्धिमान लोग उसके शरीर की किस प्रकार कल्पना करते हैं कि वह शरीर वाला है। जो व्यक्ति शरीर की भाँति आत्मा को भिन्न-भिन्न मानते तथा जितने शरीर हैं उतनी ही आत्माएँ मानते हैं वे आत्मा को समझ ही नहीं पाये जिससे उनको ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। आत्मा का स्वरूप सभी शरीरों में एक ही है।

नाविभक्तं विभक्तं च न हि दुःख सुखादि च।
नहि सर्वमसर्वं च विद्धि चात्मानमव्ययम्॥ ६४॥

अनुवाद— *आत्मा न तो विभाग वाला है न विभाग रहित है और न सुख-दुःख आदि वाला ही है, न यह सर्व है और न असर्व है और आत्मा को तू नाश रहित जान।*

व्याख्या—आत्मा शक्ति रूप है। यह कोई वस्तु नहीं है जिसका विभाग किया जा सके। जिसका कोई आकार ही नहीं निराकार है, उसका विभाग कैसे किया जा सकता है और जिसके विभाग नहीं हो सकते उसको विभाग रहित भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार सुख-दुःख मन के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं। यह सर्वरूप भी नहीं है इनसे परे है तथा असर्व भी इसे नहीं कहा जा सकता क्योंकि सभी रूप इसी के हैं। तू इस आत्मा को नाश रहित जान।

नाहं कर्त्ता न भोक्ता च न मे कर्म पुराधुना।
न मे देहो विदेहो वा निर्ममेति ममेति किम्॥ ६५॥

अनुवाद— *मैं कर्त्ता नहीं हूँ और भोक्ता भी नहीं हूँ, मेरे पूर्व और वर्तमान के कर्म भी नहीं हैं। मेरा शरीर नहीं है अथवा बिना शरीर के भी नहीं हूँ। मैं ममता से रहित और ममता वाला कैसे हो सकता हूँ।*

व्याख्या—आत्मा कर्मों का कर्त्ता नहीं है इसलिए वह कर्म फलों

का भोक्ता भी नहीं है। आत्मा के कोई पूर्वकृत कर्म भी नहीं हैं जिसका फल इस जीवन में भोगना पड़े न इस जीवन में ही कोई कर्म है। कर्मों का कारण मन एवं अहंकार है आत्मा नहीं। आत्मा का अपना कोई शरीर नहीं है वह अशरीरी एवं निराकार है तथा यह सारी सृष्टि ही उसका शरीर है जिससे वह शरीर रहित भी नहीं है। इसलिए दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा होने से ये सभी गुण मेरे में हैं फिर मैं ममता सहित और ममता रहित कैसे हो सकता हूँ अर्थात ये दोनों ही भाव मेरे में विद्यमान नहीं हैं। क्योंकि मैं जीवन्मुक्त हूँ तथा परमानन्द में स्थित हूँ।

न मे रागादिको दोषो दुःखं देहादिकं न मे।
आत्मानं विद्धि मामेकं विशालं गगनोपमम्॥ ६६॥

अनुवाद— *ये रागादिक दोष मेरे नहीं हैं, शरीर के दुःख आदि भी मेरे नहीं हैं। मुझे एक ही आत्म रूप एवं विशाल आकाश के समान तू जान।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी शिष्य को कहते हैं कि मैं आत्मा होने से ये रागादि दोष मेरे नहीं हैं तथा शरीर के दुःख आदि भी मेरे नहीं हैं। ये मन के धर्म हैं आत्मा के नहीं। मैं आत्मरूप होने से एक ही आकाश तुल्य विशाल एवं व्यापक हूँ ऐसा तू जान।

सखे मनः किं बहुजल्पितेन,
सखे मनः सर्वमिदं वितर्क्यम्।
यत्सारभूतं कथितं मया ते,
त्वमेव तत्त्वं गगनोपमोऽपि॥ ६७॥

अनुवाद— *हे सखे मन! बहुत कहने से क्या प्रयोजन है, हे सखे मन! यह सम्पूर्ण जगत तर्क करने योग्य है। जो सारभूत था उसे मैंने तुझे कह दिया कि तू ही एक तत्त्व ब्रह्म है जो आकाश के समान 'निर्लेप, असंग व व्यापक' है।*

व्याख्या—इस सूत्र में दत्तात्रेय जी अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे सखे मन! यह संसार अज्ञान मात्र है जिसमें तर्क ही तर्क है, कोई समाधान अज्ञान में सम्भव ही नहीं हैं। ज्ञान प्राप्ति के बाद मुझे सृष्टि का जो सारभूत सत्य था वह ज्ञात हुआ जो मैंने तुझे कह दिया और अधिक कहने से कोई प्रयोजन नहीं है। सार रूप में एक ही सत्य है कि तू भी उस आत्मा से भिन्न नहीं है बल्कि उसी के समान आकाशवत् निर्लेप, असंग एवं व्यापक है। अपने को इससे अलग मानने के कारण ही तेरे में विकार उत्पन्न हुए हैं जिससे तू संसारी की भाँति तर्क वितर्क में समाधान खोजता है जब कि तेरा सत्य स्वरूप उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है ऐसा निश्चित जान।

येन केनापि भावेन यत्र कुत्र मृता अपि।
योगिनस्तत्र लीयन्से घटाकाशमिवाम्बरे॥ ६८॥

अनुवाद—*जिस किसी भी भाव से योगी (ज्ञानी) का जहाँ कहीं भी मरण होता है वह वहीं ब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जाता है जैसे घटाकाश महाकाश में लीन होता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि ज्ञानी किसी भी कारण से, किसी भी स्थान पर एवं किसी भी समय अथवा भाव से मृत्यु को प्राप्त हो वह ब्रह्म में उसी प्रकार विलीन हो जाता है जैसे घड़े के फूटने पर उसका भीतर का आकाश बाहर के महाकाश में विलीन हो जाता है। भिन्नता की जो झूठी प्रतीति शरीर, मन आदि के कारण भी वह समाप्त हो जाती है।

तीर्थे चान्त्यजगेहे वा नष्ट स्मृतिरपि त्यजन्।
समकाले तनुं मुक्तः कैवल्यव्यापको भवेत्॥ ६९॥

अनुवाद—*ज्ञानवान पुरुष (जीवन्मुक्त) तीर्थ में अथवा चाण्डाल के घर में, बेहोश हुआ भी, समकाल में शरीर को त्याग*

कर भी मुक्त हुआ व्यापक ब्रह्मरूप हो जाता है।

व्याख्या—अज्ञानी पुरुष मृत्यु के बाद अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न लोकों में जाते हैं तथा वहाँ कर्मफल भोग के बाद पुनः जन्म लेते हैं। इनके लिए कहा गया है कि तीर्थों में, उत्तरायण में तथा प्रारब्ध भोग की समाप्ति पर मृत्यु होने पर उसकी सद्गति होती है किन्तु ज्ञानी (जीवन्मुक्त) के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वह काशी में मरे अथवा मगहर में, तीर्थ में मरे अथवा चाण्डाल के घर में, सचेत हुआ मरे अथवा अचेत, उत्तरायण में शरीर त्याग करे अथवा दक्षिणायन में, दिन में मरे अथवा रात्रि में वह शरीर त्याग के बाद व्यापक ब्रह्मरूप ही हो जाता है। अन्य किसी लोक में नहीं जाता उसका फिर जन्म भी नहीं होता।

धर्मार्थकाममोक्षांश्च द्विपदादि चराचरम्।
मन्यन्ते योगिनः सर्वं मरीचिजलसन्निभम्॥ ७०॥

अनुवाद— *धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा द्विपद आदि जितने स्थावर एवं जंगम जीव हैं, ज्ञानी लोग इन्हें मृगतृष्णा के जल के समान मानते हैं।*

व्याख्या—ज्ञानी की दृष्टि में एक ब्रह्म ही सत्य तत्व है अन्य सभी मिथ्या एवं भ्रान्ति स्वरूप है जिनको प्राप्त करके मनुष्य को कभी भी परम सुख नहीं मिल सकता। इसी सन्दर्भ में दत्तात्रेय जी कहते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की साधना अज्ञानियों के लिए है, ज्ञानी इनको मिथ्या मानता है। इसी प्रकार संसार में जितने भी वृक्षादि स्थावर पदार्थ हैं तथा अन्य जीव एवं मनुष्य सभी मृगतृष्णा में जल की भाँति मिथ्या ही है। सृष्टि का एकमात्र वास्तविक स्वरूप तो ब्रह्म ही है जिसमें ये मिथ्या भासते हैं। इन्हें सत्य नहीं कहा जा सकता।

अतीतानागतं कर्म वर्तमानं तथैव च।
न करोमि न भुंजामि इति मे निश्चलामतिः॥ ७१॥

अनुवाद— भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कर्मों को भी मैं नहीं कहता हूँ न इनके फलों को ही भोगता हूँ। इस प्रकार मेरी स्थिर बुद्धि है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी ज्ञान को उपलब्ध हो गए। वे संसार में जीवन्मुक्त होकर विचर रहे हैं। ज्ञान प्राप्ति के बाद मनुष्य के समस्त पूर्व जन्म के संचित कर्मों का क्षय हो जाता है जिससे उनका पुनर्जन्म नहीं होता तथा वर्तमान के उनके कर्म निष्काम कर्म हो जाते हैं, वे अकर्म को उपलब्ध हो जाते हैं। जिससे वे कर्मफल भोग से मुक्त हो जाते हैं तथा पुनर्जन्म न होने से उनके भविष्य के कर्म भी नहीं होते। दत्तात्रेय जी जीवन्मुक्त हो जाने से ही कहते हैं कि अब सभी प्रकार के कर्म एवं कर्मफलों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा। मैं स्थिर बुद्धि हूँ। जीवन्मुक्त ही स्थिर बुद्धि वाला होता है।

शून्यागारे समरसपूत-
स्तिष्ठन्नेकः सुखमवधूतः।
चरतिहि नगनस्त्यक्त्वा गर्वं
विन्दति केवलमात्मनि सर्वम्॥ ७२॥

अनुवाद— शून्य मन्दिर में समता रूपी रस से पवित्र हुआ अवधूत (संन्यासी) अकेला ही सुखपूर्वक रहता है। अहंकार का त्याग करके नग्न ही विचरण करता है तथा केवल आत्मा में ही सबको जानता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसा अवधूत सर्वत्र आत्मा को ही समान रूप से देखता हुआ शून्य मन्दिर में अकेला ही सुखपूर्वक रहता है। उसका इस मिथ्या जगत प्रपंच से कोई सम्बन्ध नहीं रहता न वह उससे प्रभावित ही होता है, उसकी समस्त वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं, आसक्ति का त्याग कर देता है जिससे वह शून्यरूप हो जाता है अर्थात उसका चित्त इनसे शून्य हो जाता

है, वह किसी से संग नहीं करता हुआ भी सुखपूर्वक अहंकार का त्याग कर नग्न ही विचरण करता है तथा समस्त जगत प्रपंच को आत्मा में ही कल्पित देखता है।

त्रितयतुरीयं नहि नहि यत्र,
विन्दति केवलमात्मनि तत्र।
धर्माधर्मो नहि नहि यत्र,
बद्धो मुक्तः कथमिह तत्र ॥ ७३ ॥

अनुवाद— जहाँ तुरीय आदि तीनों अवस्थाएँ नहीं हैं, वहाँ केवल आत्मा को ही जानता है। जहाँ धर्म और अधर्म भी नहीं है वहाँ बद्ध और मुक्त का व्यवहार भी कैसे हो सकता है।

व्याख्या—जीवन्मुक्त अवस्था में ज्ञानी केवल आत्मा को ही जानता है अन्य सभी भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं। वह मन से ही मुक्त हो जाता है जिससे उसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्थाएँ भी नहीं रहतीं। जीवन्मुक्त पुरुष धर्म एवं अधर्म से भी पार हो जाता है जो केवल मन की वृत्तियाँ हैं। आत्मज्ञानी इन दोनों से ही मुक्त होकर केवल आत्मा में ही स्थित हो जाता है इसलिए बन्धन और मुक्ति का भाव भी उसमें नहीं होता। वह सदा एकरस एवं शान्त हो जाता है। यही अद्वैत की स्थिति है।

विन्दति विन्दति नहि नहि मंत्रं,
छन्दोलक्षणं नहि नहि तंत्रम्।
समरसमग्नो भावित पूतः,
प्रजापतियेतत्परमवधूतः ॥ ७४ ॥

अनुवाद— चित्त से शुद्ध हुआ आत्मरस में मग्न अवधूत किसी मन्त्र को नहीं जानता है, न किसी छन्द के रूप व तन्त्र को ही जानता है। यह केवल परब्रह्म का ही कथन करता है।

व्याख्या—ये मन्त्र, छन्द, तन्त्र आदि साधनाएँ ज्ञान प्राप्ति के लिए ही जाती हैं किन्तु दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, जो आत्मरस में मग्न है, जो जीवन्मुक्त हो चुका है वह अवधूत केवल परब्रह्म को ही जानता है तथा उसी का कथन करता है। अन्य किसी विधि विधान, क्रिया-कर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

सर्वशून्यमशून्यं च सत्यासत्यं न विद्यते।
स्वभावभावतः प्रोक्तं शास्त्रसंवित्तिपूर्वकम्॥ ७५॥

अनुवाद— *शास्त्रों ने ज्ञानपूर्वक कहा है कि यह सम्पूर्ण जगत शून्यरूप है और ब्रह्म ही अशून्य है। वह स्वभाव से ही भावरूप है। उसमें सत्य और असत्य भी नहीं है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी इस सूत्र में कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत शून्य स्वरूप है जिसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह ब्रह्म का ही प्रकट रूप है, उसी का विस्तार मात्र है। वह ब्रह्म ही अशून्य है एवं भाव स्वरूप है जो न सत्य है न असत्य। अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, शून्य से किसी पदार्थ का निर्माण नहीं हो सकता। यह स्थूल विशाल जगत किसी भाव पदार्थ की ही उपज है। यह भाव पदार्थ ही ब्रह्म है जो अति सूक्ष्म है किन्तु शून्य स्वरूप नहीं है।

॥ पहला अध्याय समाप्त॥

दूसरा अध्याय

अवधूत उवाच

बालस्य वा विषयभोगरतस्य वापि,
मूर्खस्य सेवकजनस्य गृहस्थितस्य।
एतत्गुरोः किमपि नैव न चिन्तनीयं,
रत्नं कथं त्यजति कोऽप्यशुचौ प्रविष्ठम् ॥ १ ॥

अनुवाद— *इन गुरुओं में बालक का अथवा विषयभोग में रहकर मूर्ख का, सेवक जन का, गृहस्थी का चिन्तन नहीं करना चाहिए (क्योंकि) अपवित्र वस्तु में गिरे हुए रत्न को कोई भी किस प्रकार छोड़ देता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मनुष्य का विकास गुणों के ग्रहण से होता है किसी विशेष व्यक्ति की पूजा, सेवा, भक्ति, चरण छूना, उनके पाँव दबाने आदि से नहीं होता। थोड़े-थोड़े गुण तो हर व्यक्ति में होते ही हैं इसलिए ये गुण यदि किसी बालक में, विषय भोग रत व्यक्ति में, मूर्ख में, नौकर में, गृहस्थ आदि में कहीं भी दिखाई दें उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें यह विचार कदापि नहीं करना चाहिए कि केवल साधु-संन्यासी, भगवा वेषधारी, दण्ड कमण्डल, त्रिशूलधारी, जंगलों में रहने वाले, नग्न रहने वाले ही गुणी होते हैं व अन्य किसी में कोई गुण होता ही नहीं। गुण ग्रहण करने में छोटे-बड़े व ऊँच-नीच का भेद भी नहीं करना चाहिए केवल गुण ही देखना चाहिए जिन्हें ग्रहण करके व्यक्ति अपनी आत्मा का उद्धार कर सकता है। गुण

हीरे के सदृश है जिसे विष्ठा में पड़े होने पर भी कोई व्यक्ति नहीं छोड़ता, उसी प्रकार अपवित्र व्यक्तियों में भी जो गुण हैं उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए जिससे स्वयं की आत्मा का उद्धार हो सके।

नैवात्र काव्यगुण एव तु चिन्तनीयो,
ग्राह्य परं गुणवता खलु सार एव।
सिन्दूर चित्र रहिता भुवि रूपशून्या,
पारं न किं नयति नौरिह गन्तुकामान्॥२॥

अनुवाद— *यहाँ (ज्ञान प्राप्ति में) काव्य गुण (विद्वता) का ही चिन्तन नहीं करना चाहिए, निश्चय ही गुणगान से परम सार वस्तु ही ग्रहण करनी चाहिए। इस संसार में नदी पार जाने की कामना वालों को क्या सिन्दूर की चित्रकारी से रहित रूप से शून्य नाव पार नहीं लगाती है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जिस प्रकार नदी पार करने के लिए सुदृढ़ नाव ही देखनी चाहिए उसकी सिन्दूर की चित्रकारी आवश्यक नहीं है उसी प्रकार इस संसार सागर से पार उतरने के लिए किसी के गुण ग्रहण करना ही आवश्यक है उस व्यक्ति की जाति, धर्म, कुल, शास्त्र ज्ञान, विद्वता, रूप, वस्त्र आदि देखने से कोई लाभ नहीं होता। व्यक्ति का उत्थान गुणों से होता है उसी को ग्रहण करना चाहिए।

प्रयत्नेन बिना येन निश्चलेन चलाचलम्।
ग्रस्तं स्वभावतः शान्तं चैतन्यं गगनोपमम्॥३॥

अनुवाद— *जिस निश्चल (ब्रह्म) से बिना ही प्रयत्न के यह चल एवं अचल ग्रस्त है वह (ब्रह्म) स्वभाव से ही शान्त एवं गगन के सदश है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी इस सूत्र में ब्रह्म की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि वह ब्रह्म निश्चल है। कहीं चलता नहीं है, उसकी कोई

क्रिया नहीं है, कोई कर्म नहीं है, वह कोई प्रयत्न नहीं करता किन्तु बिना ही उसके प्रयत्न के यह सभी चल एवं अचल जगत क्रियाशील है, चलायमान है जो उसी की शक्ति का परिणाम है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में सभी कार्य होते हैं वह स्वयं नहीं करता उसी प्रकार ब्रह्म शक्ति के प्रकाश में ही इस सृष्टि का संचालन हो रहा है किन्तु वह ब्रह्म शान्त है तथा आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है।

अयताश्चालयेद्यस्तु एकमेव चराचरम्।
सर्वंग तत्कथं भिन्नमद्वैतं वर्तते मम॥४॥

अनुवाद— फिर जो एक ही (ब्रह्म) समस्त चर एवं अचर जगत को बिना ही प्रयत्न के चलायमान करता है। वह सर्वगत है। फिर मुझसे भिन्न अद्वैत रूप होकर कैसे वर्तता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जो ब्रह्म बिना ही प्रयत्न के अचल होकर समस्त जगत को चलायमान करता है तथा सबमें व्याप्त एवं सर्वत्र है फिर वह मुझसे भिन्न कैसे हो सकता है। भिन्न होने पर तो द्वैत हो जाता है कि मैं और ब्रह्म भिन्न हैं। किन्तु वह अद्वैत है, उसमें भिन्नता है ही नहीं फिर वह मेरे से भिन्न कैसे हो सकता है। अर्थ है कि मैं नाम की ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं है। मैं भी ब्रह्म ही हूँ।

अहमेव परं यस्मात्सारासारतरं शिवम्।
गमागमविनिर्मुक्तं निर्विकल्पं निराकुलम्॥५॥

अनुवाद— मैं ही जिससे सूक्ष्म हूँ, सार असार से रहित कल्याण स्वरूप हूँ, गमनागमन से रहित हूँ, निर्विकल्प तथा कुल से रहित हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं स्वयं ब्रह्म स्वरूप हूँ जिससे मैं प्रकृति से भी अधिक सूक्ष्म हूँ। प्रकृति भी मेरा ही स्वरूप है, मैं सार असार से भी रहित हूँ तथा शिव (कल्याण स्वरूप) हूँ, गमनागमन से रहित निश्चल हूँ, मेरे में द्वैत अद्वैत का विकल्प भी नहीं है तथा कुल से

भी रहित हूँ। ब्रह्म निराकार होने से इन सबसे रहित है तथा आत्म ब्रह्म ही है जिससे ये सब गुण आत्मा के भी गुण हैं।

सर्वावयव निर्मुक्तं तदहं त्रिदशार्चितम्,
संपूर्णत्वान्नगृहणामि विभागं चिदशादिकम्॥६॥

अनुवाद— सो मैं सम्पूर्ण अवयवों से रहित हूँ, देवताओं द्वारा भी पूजित हूँ। सम्पूर्ण होने से देवताओं के विभाग को भी ग्रहण नहीं करता हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं ब्रह्म ही हूँ जिससे सम्पूर्ण अवयवों से रहित हूँ तथा देवताओं द्वारा भी पूजित हूँ। सभी देवता मुझे ही भजते हैं। मैं ही समस्त सृष्टि में पूर्ण रूप से व्याप्त हूँ इसलिए देवता भी मेरे से भिन्न नहीं हैं।

प्रमादेन न सन्देहः किं करिष्यामि वृत्तिमान्।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते बुद्बुदाश्च यथा जले॥७॥

अनुवाद— अन्तःकरण की वृत्तियों को क्या प्रमादवश मैं उत्पन्न करता हूँ? ये जल में बुदबुदे के समान अपने आप ही उत्पन्न होती हैं तथा विलीन हो जाती हैं इसमें सन्देह नहीं है।

व्याख्या—अन्तःकरण की वृत्तियाँ अपने स्वभाव के कारण अपने आप उठती हैं तथा विलीन हो जाती हैं जैसे जल में बुलबुले उठते और विलीन होते रहते हैं। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा होने से केवल दृष्टा मात्र हूँ। मेरा इन वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये वृत्तियाँ चित्त का ही धर्म हैं, आत्मा का धर्म नहीं हैं।

महदादीनि भूतानि समाप्यैवं सदैव हि।
मृदु द्रव्येषु तीक्ष्णेषु गुड़ेषु कटुकेषु च॥८॥
कटुत्वं चैव शैत्यत्वं मृदुत्वं च यथा जले।
प्रकृतिः पुरुषस्तद्वदाभिन्नं प्रतिभाति मे॥९॥

अनुवाद— *जिस प्रकार जल से उसकी शीतलता एवं कोमलता भिन्न नहीं हैं, मृदु पदार्थों में मृदुता, तीक्ष्ण पदार्थों में तीक्ष्णता, गुड़ में मिठास एवं कटु पदार्थों में कटुता भिन्न नहीं है उसी प्रकार महतत्त्व आदि भूत पदार्थों की भिन्नता सदा से समाप्त करे। वैसे ही मुझे तो प्रकृति और पुरुष भी अभिन्न ज्ञात होते हैं।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जिस प्रकार जल का गुण मृदुलता एवं कोमलता है उसी प्रकार मीठे पदार्थों में, मृदुता, तीक्ष्ण पदार्थों में तीक्ष्णता, गुड़ में मिठास, कटु पदार्थों में कटुता भिन्न नहीं है ये उनके गुण हैं जिनको अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार महतत्त्व आदि सभी भौतिक पदार्थ प्रकृति से भिन्न नहीं है बल्कि उसी का गुण है। इनकी यह भिन्नता समाप्त करने योग्य है। सभी भौतिक पदार्थ केवल प्रकृति ही है। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मुझे तो जड़ प्रकृति एवं चेतन पुरुष भी अभिन्न प्रतीत होते हैं। ये दोनों ही उस एक ही ब्रह्म की दो प्रकृतियाँ मात्र हैं। गीता में भी इन्हें ईश्वर की दो प्रकृत्तियाँ कहा गया है। प्रकृति चेतन की ही शक्ति है। शक्ति का शक्तिमान से भेद सम्भव ही नहीं है।

सर्वाख्यारहितं यद्वत्सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं परम्।
मनोबुद्धीन्द्रियातीतम कलंकं जगत्पतिम्॥१०॥
ईदृशं सहजं यत्र अहम् तत्र कथम् भवेत्।
त्वमेव हि कथम् तत्र कथम् तत्र चराचरम्॥११॥

अनुवाद— *जो आत्मा सम्पूर्ण संज्ञा से रहित है, सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, श्रेष्ठ है, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का विषय नहीं है, कलंक से रहित है, जगत का स्वामी है, इसी प्रकार के गुण जिसमें स्वभाव से विद्यमान हैं उसमें 'मैं' का कथन किस प्रकार बनता है, 'तू' का कथंन भी कैसे बनता है, चर एवं अचर का कथन भी कैसे बनता है।*

व्याख्या—वह ब्रह्म चेतन सम्पूर्ण नामों से रहित है। नाम किसी वस्तु का ही दिया जा सकता है जिसकी कि कोई निश्चित मात्रा व आकार हो। ब्रह्म चेतन प्रकृति से भी अति सूक्ष्म है, यह सभी में श्रेष्ठ है, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति से भी परे है, कलंक से रहित सर्वशुद्ध है तथा सम्पूर्ण जगत का स्वामी है। जगत की रचना का वही एकमात्र कारण है जो नाम रूप से रहित है इसलिए उसको कोई नाम नहीं दिया जा सकता। ये गुण उसमें स्वभाव से ही विद्यमान हैं इसलिए उसके लिए 'मैं' तथा 'तू' का कथन नहीं हो सकता। 'मैं' और 'तू' कहने में भेद की प्रतीति होती है जब कि इस जगत में उससे भिन्न कुछ है ही नहीं फिर 'मैं' और 'तू' कैसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार इसमें 'चर' और 'अचर' का भेद भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कुछ है ही नहीं इसलिए ये भेद इसके नहीं हैं।

गगनोपयं तु यत्प्रोक्तं तदेव गगनोपमम्।
चैतन्यं दोषहीनं च सर्वज्ञं पूर्णमेव च॥१२॥

अनुवाद— *जिसे आकाश से सदृश कहा गया है वह आकाश के सदृश ही है। वह चैतन्य, दोष से रहित, सर्वज्ञ और पूर्ण भी है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि उस ब्रह्म को सभी ग्रन्थों में आकाश के समान व्यापक, असंग एवं निर्दोष कहा गया है वह वास्तव में आकाश सदृश ही है ऐसा मैंने जान लिया है। साथ ही वह जड़ नहीं चैतन्य है, सम्पूर्ण दोषों से रहित है, सर्वज्ञ है, सब कुछ जानने वाला स्वयं ज्ञान है तथा पूर्ण भी है। इसमें मुझे कोई संशय नहीं है।

पृथिव्यां चरितं नैव मारूतेन च वाहितम्।
वारिणा विहितं नैव तेजोमध्ये व्यवस्थितम्॥१३॥

अनुवाद— *वह पृथ्वी में गमन नहीं करता, हवा उसको ले नहीं जा सकता, जल उसको आच्छादित नहीं कर सकता, वह तेज*

के मध्य स्थित रहता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि वह चेतन आत्मा 'ब्रह्म' पृथ्वी, जल, वायु एवं तेज आदि पाँच भूत पदार्थों से भिन्न प्रकार का है जो इनसे प्रभावित नहीं होता। वह पृथ्वी में गमन नहीं करता, वायु उसे उड़ा नहीं सकता, जल उसे भिगो नहीं सकता, न ढक सकता है तथा वह तेज के मध्य स्थित होकर भी उससे प्रभावित नहीं होता। ये चारों इसी के प्रकट रूप हैं।

आकाशं तेन संव्याप्तं न तद्व्याप्तं न केनचित्।
स बाह्याभ्यन्तरं तिष्ठत्यवच्छिन्नं निरन्तरम्॥१४॥

अनुवाद— *उस (ब्रह्म) से आकाश भी संव्याप्त है, वह किसी से व्याप्त नहीं है, वह बाहर और भीतर एकरस अविच्छिन्न रूप से सर्वत्र स्थित है।*

व्याख्या—वह ब्रह्म इतना विशाल एवं व्यापक है कि आकाश भी उसी में संव्याप्त है वह आकाश में संव्याप्त नहीं है। वह सभी में बाहर व भीतर समान रूप से बिना किसी व्यवधान के सर्वत्र स्थित है। कोई भी ऐसा पदार्थ अथवा स्थान नहीं, जहाँ वह नहीं हो। सभी उसी में व्याप्त है।

सूक्ष्मत्वात्तददृश्यत्वान्निर्गुणत्वाश्च योगिभिः।
आलम्बनादि यत्प्रोक्तं क्रमादालम्बनं भवेत॥१५॥

अनुवाद— *योगियों ने जिसके आलम्बनादि की बात कही है वह आलम्बन क्रम से ही होता है क्योंकि वह ब्रह्म सूक्ष्म, अदृश्य एवं निर्गुण है।*

व्याख्या—योगी अपनी साधना में परम ब्रह्म के आलम्बन की बात कहते हैं कि जिस समय चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध होता है उस समय बिना किसी आलम्बन के योगी शून्य में भटक सकता है।

इसलिए उस समय किसी आलम्बन की आवश्यकता होती है। पतंजलि ने भी इसी कारण 'ईश्वर प्रणिधान' की बात कही, कबीर ने भी राम का सहारा नहीं छोड़ा। यह आलम्बन निराकार एवं साकार किसी का भी हो सकता है किन्तु साकार के आलम्बन से वह साकार से ही बंध जाता है जैसे रामकृष्ण काली से ही बंध गये। निराकार में प्रवेश करने के लिए साकार का आलम्बन भी छोड़ना पड़ता है।

दत्तात्रेय जी कहते हैं कि ब्रह्म निर्गुण, अदृश्य एवं सूक्ष्म है जिसका आरम्भ में आलम्बन नहीं लिया जा सकता। वह क्रम से ही होता है। स्थूल के आलम्बन से ही सूक्ष्म की ओर बढ़ा जाता है। पहले स्थूल पदार्थों से मन का निरोध किया जाता है फिर विचारों का निरोध किया जाता है फिर मन का बुद्धि में तथा बुद्धि का अन्तःकरण में लय किया जाता है। इसी के बाद ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। इनका एक निश्चित क्रम एवं युक्ति है जिसके बिना सीधा उस सूक्ष्म का आलम्बन नहीं हो सकता।

सतताभ्यासयुक्तस्तु निरालम्बो यदा भवेत।
तल्लयाल्लीयते नान्तर्गुणदोष विवर्जितः॥१६॥

अनुवाद—*जिस समय सतत अभ्यास से युक्त होकर जब चित्त निरालम्ब हो जाता है जब वह गुण दोष से रहित होता है उसी समय चित्त के लय होने से उसका ब्रह्म में लय हो जाता है। इसके बिना नहीं होता।*

व्याख्या—साधना द्वारा अन्तिम उपलब्धि चित्त के ब्रह्म में लय होने से ही होती है जिसके अभ्यास का क्रम पूर्व सूत्र में बताया गया है। इस क्रम वे युक्ति से आरम्भ करके निरन्तर अभ्यास से ही चित्त का ब्रह्म में लय होता है। जब चित्त सभी गुण एवं दोषों से रहित हो जाता है तो वह निरालम्ब हो जाता है क्योंकि चित्त का निर्माण भी प्रकृति के गुणों (सत्व, रज एवं तम) से हुआ है। इन तीनों गुणों का परित्याग कर देने से

वह गुण रहित होकर निरालम्ब हो जाता है तथा शुद्ध चेतन ब्रह्म ही रह जाता है जो उस परब्रह्म में लीन हो जाता है। इसी विधि से चित्त का ब्रह्म में लय होता है जिससे वह ब्रह्म ही हो जाता है। अन्य कोई विधि नहीं है। चित्त का ब्रह्म में लय हो जाना ही ब्रह्म होना है।

विषविश्वस्य रौद्रस्य मोह मूर्च्छाप्रदस्य च।
एकमेव विनाशाय ह्यमोघं सहजामृतम्॥१७॥

अनुवाद—*यह विश्व रूपी विष बड़ा भयानक और मोह एवं मूर्छा को देने वाला है। इसके विनाश का एक ही अमोघ सहज अमृत (आत्म-ज्ञान) है।*

व्याख्या—यह संसार प्रकृति जन्य है जो दृश्य है तथा बड़ा लुभावना प्रतीत होता है जिससे अज्ञानी उसी की ओर आकर्षित होते हैं यह व्यक्ति को मोह एवं मूर्छा में इस प्रकार डाल देता है कि जिससे उसकी आत्मा का ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता। यह क्षणिक सुखों में लिप्त कर मनुष्य को इसके ज्ञान से ही भटका देता है इसलिए यह आत्मा के लिए भयानक विष के समान है जिससे स्वयं का पतन ही नहीं होता बल्कि वह मृत तुल्य हो जाता है। इसके मोह को छुड़ाने का एकमात्र उपाय आत्म-ज्ञान है जो एक सहज मार्ग है। स्वयं की आत्मा के ज्ञान के बिना इस संसार के मोह से कभी छुटकारा नहीं हो सकता। यही एकमात्र अमोघ अस्त्र है। अन्य सभी विधियाँ भटकाने वाली हैं।

भावगम्यं निराकारं साकारं दृष्टिगोचरम्।
भावाभाव विनिर्मुक्तमन्तरालं तदुच्यते॥१८॥

अनुवाद—*निराकार (ब्रह्म) को भाव (चित्त) से ही जाना जाता है तथा साकार दृष्टि का विषय है। जो भाव और अभाव से ही रहित है उसे अन्तराल कहा जाता है।*

व्याख्या—निराकार चेतन ब्रह्म अतिसूक्ष्म होने से इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियों से साकार ही देखा जा सकता है जो प्रकृति मात्र है। उस निराकार ब्रह्म को चित्त द्वारा ही जाना जा सकता है। जो भाव एवं अभाव से रहित है उसे अन्तराल कहा जाता है। वह शून्य रूप है। इसी अन्तराल में अर्थात शून्यावस्था में ही निराकार चेतन का अनुभव होता है।

वा ह्यभावं भवेद्विश्वमन्तः प्रकृतिरुच्यते।
अन्तरादन्तरं ज्ञेयं नारिकेल फलाम्बुवत्॥१९॥

अनुवाद— *बाहर जितना भी भाव पदार्थ है वह विश्व होता है इसके भीतर को प्रकृति कहते हैं। इस अन्तर प्रकृति के भी भीतर (ब्रह्म) जानने योग्य है जैसे नारियल के फल के भीतर जल होता है।*

व्याख्या—बाहर आँखों से जो दिखाई देता है उस भाव पदार्थ को विश्व कहते हैं तथा इसके भीतर जो इसका कारण तत्व है उसे प्रकृति कहा जाता है। प्रकृति सूक्ष्म है व विश्व स्थूल है। सूक्ष्म प्रकृति से ही स्थूल जगत का निर्माण होता है। इस सूक्ष्म प्रकृति के भी भीतर वह चेतन ब्रह्म है जो जानने योग्य है। ये तीनों इस प्रकार संयुक्त हैं जैसे नारियल का फल। इस फल के ऊपर का ठोस भाग विश्व है, इसके भीतर की गिरी प्रकृति है तथा इसके भीतर का जल ब्रह्म है।

भ्रान्तिज्ञानं स्थितं बाह्ये सम्यग्ज्ञानं च मध्यगम्।
मध्यान्मध्यतरं ज्ञेयं नारिकेल फलाम्बुवत्॥२०॥

अनुवाद— *बाहर स्थित ज्ञान भ्रान्ति रूप है, मध्य का ज्ञान यथार्थ ज्ञान है, मध्य के भी मध्य नारियल के फल के भीतर के जल के समान जानने योग्य है।*

व्याख्या—जिस प्रकार नारियल के फल का ऊपरी छिलका

भ्रान्तिमात्र है, वह वास्तविक फल नहीं है उसी प्रकार संसार का बाहरी स्थूल भाग का ज्ञान भ्रान्ति मात्र है जिसका कोई उपयोग नहीं है। उसका मध्य का भाग प्रकृति है जो यथार्थ ज्ञान है जो इस स्थूल जगत का कारण है। इसे जाने बिना स्थूल सृष्टि का ज्ञान भ्रान्ति ही पैदा करता है। वैज्ञानिकों की खोज का आधार स्थूल जगत ही है जिससे भ्रान्तियाँ अधिक पैदा हुई हैं। मूल प्रकृति को समझना ही यथार्थ ज्ञान है जिससे सृष्टि का कारण ज्ञात हो सकता है। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि इस प्रकृति के भी भीतर एक ऐसा तत्व है जो जानने योग्य है। वह तत्व नारियल के भीतर जल के समान है तथा इसी जल से नारियल की गिरी व उसके छिलके का निर्माण होता है। यही तत्व प्रकृति एवं स्थूल जगत के निर्माण का आधार है तथा यही एकमात्र सत्य है जो जानने योग्य है। अन्य सभी मिथ्या व भ्रान्ति रूप है। यही ज्ञान ब्रह्मज्ञान है जिसको जानकर ही व्यक्ति जीवन्मुक्त होता है।

पौर्णमास्यां यथा चन्द्र एक एबातिनिर्मलः।
तेन तत्सदृशं पश्येद्विधा दृष्टिविपर्ययः॥२१॥

अनुवाद—*जिस प्रकार पूर्णमासी में एक ही चन्द्रमा अति निर्मल होता है उसी प्रकार आत्मा को भी उसी के समान देखें। दृष्टि दोष से ही वह दो प्रकार का दिखाई देता है। यह दृष्टि भ्रम है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि पूर्णमासी का चन्द्रमा एक ही होता है जो अति निर्मल दिखाई देता है किन्तु जिनमें दृष्टि दोष होता है उनको एक ही चन्द्रमा दो दिखाई देते हैं उसी प्रकार आत्मा एक ही है तथा अति निर्मल है किन्तु ज्ञान दृष्टि के अभाव में अज्ञानियों को उसमें द्वैत दिखाई देता है। वे आत्मा और ब्रह्म को भिन्न मानते हैं जिससे वे जीवात्मा और आत्मा को दो मानते हैं तथा प्रत्येक मनुष्य में भिन्न-भिन्न आत्माएँ मानते हैं जबकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा है। भिन्नता की प्रतीति भ्रम मात्र है जो अज्ञान ही है।

अनेनैव प्रकारेण बुद्धिभेदो न सर्वगः।
दाता च धीरतामेति गीयते नामकोटिभिः॥२२॥

अनुवाद— *इसी पूर्वोक्त प्रकार से सर्वगत चैतन्य में ज्ञान का भेद नहीं होता है और इस ज्ञान को देने वाला धीरता को प्राप्त होता है और करोड़ों नामों से उस का गुणगान होता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि वह सर्वगत चैतन्य ब्रह्म का स्वरूप सर्वत्र एक जैसा ही है जैसा पूर्व में बताया गया है। इससे भिन्न कोई ज्ञान है ही नहीं क्योंकि सत्य ज्ञान एक ही होता है उसमें कोई भेद नहीं होता। भेद की प्रतीति अज्ञान के ही कारण होती है जो दृष्टि भ्रम मात्र है जैसे मृगतृष्णा में जल का दिखाई देना, रस्सी को साँप समझ लेना आदि। इसी प्रकार संसार को सत्य समझ लेना, जीवात्मा और परमात्मा को भिन्न मान लेना आदि दृष्टि भ्रम ही है जो सत्य दृष्टि नहीं है। जो इस अद्वैत के ज्ञान को ही सत्य मानकर इस ज्ञान को दूसरों को देते हैं वे धीरता को प्राप्त होते हैं तथा वे ही वास्तविक ज्ञानी हैं जिन्होंने इस गूढ़ रहस्य को जान लिया है इसलिए उनका करोड़ों नामों से गुणगान होता है।

गुरु प्रज्ञा प्रसादेन मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यस्तु सम्बुध्यते तत्त्वं विरक्तो भवसागरात्॥२३॥

अनुवाद— *मूर्ख हो अथवा पंडित (शास्त्रज्ञ) हो, जो गुरु के ज्ञान रूपी प्रसाद से आत्म तत्व को ठीक प्रकार से ज्ञान लेता है वह संसार रूपी भवसागर से विरक्त हो जाता है (जन्म-मरण से छूट जाता है)।*

व्याख्या—आत्मज्ञान गुरु प्रसाद अथवा गुरु कृपा से ही होता है। इसमें मूर्ख अथवा शास्त्रज्ञ पंडित का कोई भेद नहीं होता। मूर्ख भी यदि इस आत्मज्ञान रूपी प्रसाद को गुरु से प्राप्त कर लेता है जो वह भी संसार सागर से मुक्त होकर, जन्म मृत्यु के चक्र से छूटकर आत्मानन्द का भोग

कर सकता है। उसके सभी दु:खों का अन्त हो जाता है। जो व्यक्ति आत्म तत्व का बोध कराता है वही गुरु होता है। उस गुरु की कृपा से ही व्यक्ति को आत्मबोध होता है। अन्य कोई भी उसे नहीं करा सकता। इसलिए आत्मबोध में गुरु की अनिवार्यता है।

राग द्वेष विनिर्मुक्तः सर्वभूतहितेरतः।
दृढ़बोधश्च धीरश्च सगच्छेत्परमं पदम्॥२४॥

अनुवाद— *जो राग द्वेष से रहित है, सम्पूर्ण भूतों के हित में रत है और दृढ़ बोध वाला है, धीर है वह परमपद को गमन करता है।*

व्याख्या—परम पद मुक्ति को वही व्यक्ति प्राप्त होता है जो राग द्वेष आदि सम्पूर्ण दोषों से मुक्त है, सभी प्राणियों के हित में रत है, जिसे आत्मज्ञान का दृढ़ ज्ञान हो गया है तथा जो धैर्यवान है। मुक्ति के लिए आत्मज्ञान आवश्यक है तथा उसमें भी दृढ़ स्थिति आवश्यक है। इसके साथ ही राग द्वेष रहित एवं परहित रत रहना भी आवश्यक है जिससे दोष रूपी मल उसे फिर विकृत न कर दे। इसके लिए धैर्य भी आवश्यक है। यह सम्पूर्ण जीवन की साधना है। केवल आत्मबोध हो जाने से परम पद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

घटे भिन्ने घटाकाश आकाशे लीयते यथा।
देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि॥२५॥

अनुवाद— *जिस प्रकार घड़े के फूटने पर घड़े का आकाश महाकाश में लय हो जाता है उसी प्रकार देह के नाश होने पर योगी परमात्म स्वरूप में लीन हो जाता है।*

व्याख्या—घड़े का आकाश एवं उससे बाहर के आकाश में भिन्नता नहीं है किन्तु यह भिन्नता घड़े के कारण ज्ञात होती है कि दोनों भिन्न हैं। इसी प्रकार शरीर के कारण ही जीवात्मा एवं परमात्मा में भेद ज्ञात होता है कि आत्मा एवं परमात्मा अथवा ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं। घड़े की भाँति

जब ब्रह्मवेत्ता योगी का लिंग शरीर नष्ट हो जाता है तो उसके भीतर का चेतन तत्व आत्मा उस विश्वात्मा में लीन हो जाता है। यह लिंग शरीर ही दोनों में भिन्नता का कारण है जो अज्ञानवश प्रतीत होती है। वास्तव में भिन्नता नहीं है।

उक्तेयं कर्म युक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः।
न चोक्ता योगयुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः॥२६॥

अनुवाद— *'अन्त मति सो गति' अन्त में जैसी मति (बुद्धि) होती है वैसी ही उसकी गति होती है—यह कर्मयुक्त मनुष्यों (अज्ञानियों) के लिए ही कहा गया है। योगयुक्त मनुष्यों के लिए नहीं कहा गया है कि अन्त में जैसी मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है।*

व्याख्या—अज्ञानी जिस कर्म को जीवन भर करता रहता है उसी के संस्कार एवं भाव उसके अन्त समय (मृत्यु के समय) भी बने रहते हैं जिससे अन्त समय में उसे उन्हीं की याद रहती है, वैसी ही उसकी बुद्धि होती है जिससे उसी भावना के अनुसार उसकी गति होती है तथा इसी के अनुसार उसका अगला जन्म होता है। इसलिए यह युक्ति अज्ञानियों के लिए ही है। जीवन्मुक्त योगियों के लिए यह नहीं है क्योंकि वह निरन्तर ब्रह्म में ही लीन रहता है जिससे अन्त में वह ब्रह्म की ही भावना करता है इसलिए वह मृत्यु के बाद ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।

या गतिः कर्मयुक्तानां सा च वागिन्द्रयाद्वदेत्।
योगिनां या गतिः क्वापि ह्यकथ्याभवतार्जिता॥२७॥

अनुवाद— *कर्मयुक्त अज्ञानियों की जो गति शास्त्रों में कही गई है वह वाणी तथा इन्द्रियों से कही जाती है और योगियों की गति जो तुमने संग्रह की है वह कहीं भी कथन करने योग्य नहीं है।*

व्याख्या—शास्त्रों में कर्मयुक्त अज्ञानियों के लिए भिन्न-भिन्न

प्रकार की गतियों का कथन किया गया है जैसे स्वर्ग, नरक, कीट, पतंग, निम्न योनियों में जन्म लेना आदि। इसे वाणी तथा इन्द्रियों से कहा जा सकता है किन्तु योगियों की गति कैसी होती है इसका संग्रह ज्ञानी ही करते हैं कि वह मोक्ष को प्राप्त होगा, अथवा मुक्त होकर ब्रह्मलोक में निवास करेगा, ईश्वर ही हो जायेगा अथवा ईश्वर स्वरूप हो जायेगा, सिद्धलोक में जाएगा आदि। इस गति का शास्त्रों में कथन नहीं किया गया है क्योंकि यह गति भी ब्रह्मज्ञान की भिन्नता एवं संस्कार, मन, चित्त, अहंकार आदि के बीज रूप में शेष रहने के कारण भिन्न-भिन्न होती है।

एवं ज्ञात्वा त्वमुं मार्गं योगिनां नैव कल्पितम्।
विकल्पवर्जनं तेषां स्वयं सिद्धिः प्रवर्तते॥२८॥

अनुवाद— *जो मार्ग कर्मियों के मार्ग की भाँति कल्पित नहीं है उस विकल्प रहित मार्ग को जानकर योगी उससे अपने आप सिद्धि में प्रवृत्त होता है।*

व्याख्या—कर्मियों के (अज्ञानियों के) मार्ग में कई प्रकार के विकल्प हैं तथा भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार उनकी कई प्रकार की गतियों का उल्लेख मिलता है जैसा पूर्व में कहा गया है। सभी अज्ञानियों की गति एक ही प्रकार की नहीं होती है बल्कि कर्मों की एवं वासना की भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है किन्तु ज्ञानियों का एक ही मार्ग है जिसमें कोई विकल्प नहीं है। उस मार्ग को जानकर योगी स्वयं उसी सिद्धि को प्राप्त होता है अर्थात निश्चित एवं एक ही स्थान पर पहुँचता है। इनमें कोई भेद या विकल्प नहीं है। विकल्प केवल अज्ञानियों के लिए है।

तीर्थे वांत्यजगेहे वा यत्र कुत्र मृतोऽपि वा।
न योगी पश्यते गर्भं परे ब्रह्मणि जीयते॥२९॥

अनुवाद— *योगी (ब्रह्मज्ञानी) तीर्थ में, अथवा अन्त्यज (चांडाल) के घर में अथवा जहाँ कहीं भी मरे वह गर्भ को नहीं देखता है। वह परब्रह्म में लय हो जाता है।*

व्याख्या—जो योगी ब्रह्मज्ञान को प्राप्त हो गया है वह चाहे तीर्थ में मरे अथवा चांडाल के घर में अथवा मार्ग में, जल, थल, अन्तरिक्ष आदि में कहीं भी मरे उसका पुनर्जन्म नहीं होता है जिससे वह पुनः कभी गर्भ में नहीं आता है। वह परब्रह्म में ही विलीन हो जाता है। पुनर्जन्म केवल अज्ञानियों का ही होता है।

सहजमजमचिन्त्यं यस्तु पश्येत्स्वरूपं-
घटति यदि यथेष्टं लिप्यते नैव दोषैः।
सकृदपि तद्भावात्कर्म किंचिन्न कुर्यात्
तदपि न च विबद्धः संयमी वा तपस्वी॥३०॥

अनुवाद— *फिर जो (ज्ञानी) एक बार भी स्वाभाविक जन्म से रहित, मन एवं वाणी द्वारा उस अचिन्त्य (ब्रह्म) स्वरूप को देख लेता है यदि वह यथेष्ट कर्म को करता है तो वह दोषों में लिप्त नहीं होता। दोषों का अभाव हो जाने से किंचित् कर्म को न भी करे तो भी संयमी अथवा तपस्वी बद्ध नहीं होता।*

व्याख्या—कर्म अज्ञानियों के लिए ही बन्धन का कारण होते हैं क्योंकि उनके पीछे वासना एवं अहंकार होता है। वासना के कारण ही फलेच्छा होती है जो बन्धन का कारण है किन्तु जिस ज्ञानी को आत्म-ज्ञान हो गया है, जिसने एक बार भी उस ब्रह्म के स्वरूप को देख लिया है वह सभी प्रकार की वासनाओं, अहंकार आदि से मुक्त हो जाता है जिससे सभी कर्मों का क्षय हो जाता है तथा उसकी अद्वैत में स्थिति हो जाती है। वह माया से रहित हो जाता है। इसके बाद वह यथेष्ठ कर्म जो आवश्यक है करता रहे तो भी वह उनके दोषों से मुक्त ही रहता है और यदि वह कर्म न भी करे तो भी ऐसा संयमी एवं तपस्वी ज्ञानी उनसे बद्ध

नहीं होता। भाव यह है कि अज्ञानी के कर्म अनिवार्य हैं किन्तु ज्ञानी इनसे मुक्त हो जाता है। वह कर्म करे या न करे उसको कोई दोष नहीं है।

निरामयं निष्प्रतिमं निराकृतिं
निराश्रयं निर्वयुषं निराशिषम्।
निर्द्वद्वनिर्मोहमलुप्त शक्तिकं
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥३१॥

अनुवाद— *ज्ञानी जगत के स्वामी उस शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जो रोग रहित, आकार रहित, प्रतिमा रहित, निराश्रय, शरीर से रहित, इच्छा से रहित, द्वन्द्व रहित, मोह रहित तथा अलुप्त शक्ति (विद्यमान शक्ति) वाला है।*

व्याख्या—आत्मा शाश्वत है वह ब्रह्मरूप होने से वही जगत का स्वामी भी है। ज्ञानी ज्ञान प्राप्ति पर उसी आत्मा को प्राप्त होता है जो ब्रह्म रूप ही है। उपर्युक्त सभी गुण ब्रह्म के गुण हैं जो आत्मा में विद्यमान हैं अतः आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है।

वेदो न दीक्षा न च मुण्डनक्रिया
गुरुर्न शिष्यो न च यन्त्रसम्पदः।
मुद्रादिकं चापि न यत्र भासते
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥३२॥

अनुवाद— *ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जिसमें वेद और दीक्षा नहीं है, न मुण्डन क्रिया ही है, गुरु और शिष्य भी नहीं है और यन्त्रों की सम्पदा भी नहीं है, और मुद्रा आदि भी जिसमें नहीं प्रतीत होते हैं।*

व्याख्या—ज्ञानवान् उसी आत्मा में मरकर विलीन हो जाते हैं जहाँ गुरु, शिष्य, वेद, दीक्षा, मुण्डन क्रिया, यन्त्रों की क्रियाएँ, मुद्रा आदि

नहीं होतीं। ये सब संस्कार एवं कर्मकाण्ड केवल अज्ञानी के लिए ही होते हैं। आत्मज्ञान को उपलब्ध हुआ व्यक्ति इन सबसे मुक्त हो जाता है।

न शांभवं शक्तिकमानवं न वा
पिण्डं च रूपं च यदादिकं न वा।
आरम्भनिष्यत्तिघटादिकं च नो
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥३३॥

अनुवाद— *ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जिसमें न शाम्भवी, न ही शक्तिचालिनी आदि है, न उसमें पिण्डभाव है, न रूप है, न पाँव आदि ही हैं। न घट के समान आदि व अन्त ही है।*

व्याख्या—योगी लोग शाम्भवी एवं शक्तिचालिनी मुद्राओं द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत करके ईश्वर प्राप्ति की विधि अपनाते हैं किन्तु दत्तात्रेय जी कहते हैं कि ज्ञानी उस आत्मा को प्राप्त हो जाता है जो ईश्वर स्वरूप व शाश्वत है। उसमें न शाम्भवी एवं शक्तिचालिनी मुद्राएँ ही हैं, न वह बिन्दु स्वरूप है, न उसका कोई रूप ही है, न उसके पाँव ही हैं जिससे वह चलता है। घड़े की भाँति उसका आदि एवं अन्त भी नहीं है। न उसका किसी ने कुम्भकार की भाँति निर्माण ही किया है, न घट के टूटने की भाँति उसका अन्त ही हो सकता है। यह भ्रान्ति अज्ञानियों की ही है तथा वे ही ये क्रियाएँ करते हैं। ज्ञानी इन सबसे मुक्त हो जाता है।

यस्य स्वरूपात्सचराचरं जग-
दुत्पद्यते तिष्ठति जीयतेऽपि वा।
पयोविकारादिव फेनबुदबुदा-
स्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥३४॥

अनुवाद— *ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जिसके स्वरूप से समस्त चर अचर (स्थावर, जंगम) जगत उत्पन्न होता है, स्थित रहता है तथा उसी में विलीन होता है जैसे जल के विकार से फेन और बुदबुदे उत्पन्न होते हैं व उसी में विलीन हो जाते हैं।*

व्याख्या—यह आत्मा ब्रह्म ही है जो शाश्वत है। ज्ञानी उसी ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है जिससे इस समस्त स्थावर, जंगम पदार्थों का निर्माण होता है, ये सब उस ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं तथा पुनः उसी में जल में उत्पन्न बुलबुलों एवं फेन की भाँति विलीन हो जाते हैं। ब्रह्म से भिन्न सृष्टि के कोई पदार्थ नहीं हैं।

नासानिरोधो न च दृष्टिरासनं
बोधोऽप्यबोधोऽपि न यत्र भासते।
नाड़ी प्रचारोऽपि न यत्र किंचित्
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥३५॥

अनुवाद— *ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जिसमें नासाग्र भाग में दृष्टि निरोध नहीं है, न आसन ही है, जिसमें ज्ञान और अज्ञान भी नहीं भासता है जिसमें नाड़ी का विस्तार भी नहीं है।*

व्याख्या—अज्ञानी व्यक्ति ईश्वर प्राप्ति के लिए नाक के अग्रभाग में दृष्टि का निरोध करता है, विभिन्न प्रकार के आसन लगाता है, नाड़ी शोधन करता है जिससे उसे आत्मा का बोध (ज्ञान) हो जाए किन्तु आत्मा स्वयं ज्ञान ही है। उसमें अज्ञान है ही नहीं। आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप होने से वह किसका ज्ञान करे। इसलिए आत्मा रूपी ब्रह्म को जिसने प्राप्त कर लिया है उसके लिए दृष्टि का नासाग्र में निरोध, आसन, नाड़ी शोधन आदि समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। योगी लोग अज्ञानावस्था में ही ये क्रियाएँ करते हैं।

नानात्वमेकत्वमुभत्वमन्यता,
अणुत्व दीर्घत्वमहत्वशून्यता।
मानत्वमेयत्वसमत्व वर्जितं,
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥३६॥

अनुवाद— ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जिसमें नानात्व, एकत्व अथवा दोनों नहीं हैं, जो अणुत्व, दीर्घत्व, महत्व एवं शून्यता से रहित है तथा मानत्व, मेयत्व एवं समत्व से रहित है।

व्याख्या—आत्मा ब्रह्म रूप ही है जिसमें नानात्व (भिन्नताएँ) नहीं हैं वह एक ही सर्वत्र व्याप्त है। नानात्व के न होने से उसमें एकत्व की बात ही नहीं कही जा सकती क्योंकि नानात्व होने पर ही एकत्व कहा जाता है। ये सापेक्ष है। ब्रह्म के लिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि इसके दोनों रूप हैं क्योंकि इसके दो रूप ही नहीं हैं। सर्वत्र वही है। ब्रह्म न अणु स्वरूप है जिसे किसी परखनली में बन्द किया जा सके, न उसे दीर्घ ही कहा जा सकता है, न उसे महत्व कहा जा सकता है, न शून्य ही। वह प्रमाण स्वरूप भी नहीं है जिससे सिद्ध किया जा सके, न कोई विषय है जिसे अनुभव किया जा सके, न उसमें समत्व ही है। वह एक ही है जिससे उसमें किसी प्रकार के भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। ज्ञानी उसी आत्मा को प्राप्त होता है जो ब्रह्म स्वरूप एवं नित्य है।

सुसंयमी वा यदि वा न संयमी
सुसंग्रही या यदि वा न संग्रही।
निष्कर्मको वा यदि वा सकर्मक-
स्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥३७॥

अनुवाद— जो ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप आत्मा को प्राप्त हो जाता है वह सुसंयमी हो अथवा असंयमी, संग्रही हो अथवा असंग्रही, निष्कर्मी हो अथवा सकर्मी कोई अन्तर नहीं पड़ता।

व्याख्या—जो ज्ञानी आत्म-ज्ञान को प्राप्त हो गया है वह सर्वत्र एक ही आत्मा को देखता है। वह इन्द्रियों का, मन एवं वाणी का संयम करे अथवा न करे, वह भोग पदार्थों का संग्रह करे अथवा न करे, कर्मों को निष्काम भाव से करे अथवा सकाम भाव से कोई अन्तर नहीं पड़ता। ये सब नियम संयम अज्ञानियों के लिए हैं जिनसे ज्ञान प्राप्ति में सहायता मिलती है किन्तु ज्ञान प्राप्ति के बाद वह परमानन्द में स्थित हो जाता है जिससे इनका उसके लिए कोई महत्व नहीं रह जाता।

मनो न बुद्धिर्न शरीरमिन्द्रियं,
तन्मात्रभूतानि न भूतपंचकम्।
अहंकृतिश्चापि वियत्स्वरूपकं,
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥३८॥

अनुवाद— ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जो न मन है, न बुद्धि है, न शरीर है, न इन्द्रिय ही है, न तन्मात्रा है, न पंच महाभूत है, न अहंकार ही है। वह आकाश तुल्य व्यापक है।

व्याख्या—ज्ञानी उस आत्मा को प्राप्त होता है जो मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) तथा पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) एवं अहंकार आदि नहीं है बल्कि इन सबसे परे एक चेतना मात्र है ये सब रूप उसी से प्रकट होते हैं किन्तु वह इनसे परे है। वह आकाश के समान व्यापक है। उसका न कोई रूप है, न आकार, न नाम है, न उसका कोई कर्म ही है। आत्मज्ञानी ऐसा ही आत्मरूप हो जाता है।

विधौ निरोधे परमात्वतांगते,
न योगिनश्चेतसि भेदवर्जिते।
शौचं न वाऽशौचमलिंग भावना,
सर्वं विधेयं यदि वा निषिध्यते॥३९॥

अनुवाद— *भेद से रहित परम आत्मता (ब्रह्म) को प्राप्त योगी के चित्त में विधि और निरोध नहीं होते, पवित्रता, अपवित्रता तथा लिंग भावना (चिह्न भावना) भी नहीं होती तथा सम्पूर्ण विषयों का ही निषेध हो जाता है।*

व्याख्या—ब्रह्म भेद रहित है। इसमें किसी प्रकार का भेद है ही नहीं। सभी भेद अज्ञानियों को आत्मज्ञान के अभाव में ही प्रतीत होते हैं। इसलिए जो ज्ञानी इस भेद रहित परम आत्मतत्व को प्राप्त हो जाता है उसके सभी भेद समाप्त हो जाते हैं। फिर उसके चित्त में विधि और निषेध नहीं रहते।

क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए इसके भाव ही नष्ट हो जाते हैं इसलिए वह मन का निरोध भी नहीं करता। पतंजलि कहते हैं, "चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।" जब इस योग की उपलब्धि हो गई, चित्त की सभी वृत्तियाँ ही शांत हो गईं फिर निरोध किसका किया जाए। इसी प्रकार पवित्रता एवं अपवित्रता का ध्यान साधना काल में ही आवश्यक है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद इनकी भावना भी नहीं होती। इसी प्रकार लिंग भावना अर्थात चित्त पूजा, प्रतीक पूजा आदि भी समाप्त हो जाती है। जब वास्तविक स्वरूप प्राप्त हो गया फिर प्रतीक पूजा की आवश्यकता क्या है? वास्तविक ज्ञान के अभाव में ही लोग मूर्ति पूजा करते हैं, देवी-देवताओं की पूजा करते हैं आदि। तब यह सब व्यर्थ हो जाती हैं इतना ही नहीं सम्पूर्ण इन्द्रिय भोग के विषयों का भी निषेध हो जाता है। वह न किसी विषय की कामना करता है न उसमें इनके प्रति कोई वासना ही जाग्रत होती है। शरीर रक्षण के लिए जो कुछ मिल जाता है उसी को ईश्वर का प्रसाद समझ कर ग्रहण कर लेता है। अज्ञानी व्यक्ति ही विषयों की वासना करता है, ज्ञानी नहीं करता।

मनो वचो यत्र न शक्तमीरितुं
नूनं कथं तत्र गुरुपदेशता।
इमां कथामुक्त वतो गुरोस्त-
द्यक्तस्य तत्त्वं हि समं प्रकाशते॥४०॥

अनुवाद— जिस आत्मा में मन और वाणी द्वारा कथन करने की सामर्थ्य नहीं है वहाँ गुरु का उपदेश कैसे हो सकता है। इस कथन को कहने वाले उस आत्मा से जुड़े हुए गुरु को निश्चय ही एकरस आत्म तत्व प्रकाशमान होता है।

व्याख्या—वह आत्मा इतनी व्यापक, सूक्ष्म एवं इन्द्रिय ज्ञान से परे है जिसका मन और वाणी से किसी प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता। ये इन्द्रियाँ स्थूल हैं जो उस सूक्ष्म की व्याख्या करने में समर्थ नहीं है फिर कोई गुरु आत्मा का उपदेश किस प्रकार कर सकता है। कोई भी गुरु मन एवं वाणी द्वारा उसके स्वरूप को स्पष्ट कर ही नहीं सकता। उस चेतन आत्मा (ब्रह्म) से जुड़ा हुआ ज्ञानी गुरु उसी एक आत्मतत्व से प्रकाशित होता है इसलिए वह वाणी द्वारा इसका कथन नहीं कर सकता। यह ऐसा ही है जैसे ''गिरा अनयन, नयन बिनु बानी'' आत्मा के पास वाणी नहीं है जिससे वह उसकी व्याख्या कर सके तथा वाणी देखती नहीं है जिससे वह वर्णन किसका करे।

भाव यह है कि आत्मा का किसी प्रकार कथन नहीं किया जा सकता।

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

तीसरा अध्याय

अवधूत उवाच

गुणाविगुणविभागो वर्तते नैव किंचि,
द्रतिविरतिविहीनं निर्मलं निप्रपंचम्।
गुणाविगुणविहीनं व्यापकं विश्व रूपं,
कथमहमिद वन्दे व्योमरूपं शिवं वै॥१॥

अनुवाद— जिस (आत्मा, ब्रह्म) में किंचित भी गुण एवं निर्गुण का विभाग नहीं है, जो रति और विरति से रहित निर्मल एवं प्रपंच से रहित है, उस सगुण निर्गुण से रहित, व्यापक, विश्व रूप की मैं कैसे वन्दना करूँ जो आकाश स्वरूप व कल्याण स्वरूप है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि वन्दना करने में दूसरा होना चाहिए तभी वन्दना हो सकती है। आत्मा एवं ब्रह्म एक ही है जिसमें गुण निर्गुण तथा साकार निर्गुण का भेद ही नहीं है, जो रति (प्रेम) एवं उपरति (वैराग्य) से रहित है, जो स्वयं निर्मल एवं जगत प्रपंच से रहित है, मायामल से रहित है क्योंकि यह जगत प्रपंच माया का ही विस्तार है। वह सर्वत्र व्यापक, स्वयं विश्व रूप, आकाश में समान सर्वत्र व्याप्त एवं स्वयं कल्याणकारी शिव रूप है उसकी किस प्रकार वन्दना करूँ। वन्दना दो होने पर ही सम्भव है। जब वही सर्वत्र है तो कौन किसकी वन्दना करे। एक में वन्दना नहीं हो सकती।

श्वेतादिवर्ण रहितो नियतं शिवश्च,
कार्य ही कारणमिदं हि परं शिवश्च।
एवं विकल्प रहितोऽहमलं शिवश्च,
स्वात्मानमात्मनि सुमित्र कथं नमामि॥२॥

अनुवाद— *जो श्वेद आदि वर्णों से रहित नित्य एवं शिव रूप (कल्याण स्वरूप) है, यही कारण एवं कार्य है, श्रेष्ठ व शिव ही है तथा विकल्प रहित, परिपूर्ण शिव रूप ही है। हे सुमित्र! फिर मैं अपनी आत्मा को आत्मा में किस प्रकार नमस्कार करूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं शरीर, मन आदि नहीं स्वयं आत्मा ही हूँ तथा यह आत्मा ब्रह्म से किसी प्रकार भिन्न नहीं है। ब्रह्म रूप यही आत्मा श्वेत, पीत आदि वर्णों से रहित है, नित्य है, शिव स्वरूप है, कार्य कारण से रहित है क्योंकि कारण से कार्य भिन्न नहीं होता। यही श्रेष्ठ है, विकल्प रहित है, शुद्ध है तथा परिपूर्ण है। फिर कौन किसको नमस्कार करे। जब सर्वत्र आत्मा ही एक रूप से व्याप्त है, दूसरा कोई है ही नहीं तो किसको नमस्कार करूँ। नमस्कार दो होने पर ही सम्भव है, द्वैत में ही सम्भव है, अद्वैत में नमस्कार भी नहीं बनता।

निर्मूलमूल रहितो हि सदोदितोऽहं,
निर्धूमधूमरहितो हि सदोदितंऽहं।
निर्दीपदीप रहितो हि सदोदितंऽहं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥३॥

अनुवाद— *मैं निर्मूल और मूल से रहित हूँ, निर्धूम और धूम से रहित हूँ, निर्दीप और दीप से रहित हूँ। मैं सदा ही उदित हूँ, ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा होने से निर्मूल हूँ, मेरा कोई मूल (कारण) नहीं है जिससे मैं उत्पन्न हुआ हूँ, मैं कार्य

कारण से रहित हूँ। सृष्टि भी मेरा कार्य नहीं है बल्कि मैं ही सृष्टि हूँ। मैं निर्धूम हूँ, अज्ञान से रहित हूँ, मैं निर्दीप हूँ तथा दीपक से रहित स्वयं प्रकाश रूप हूँ। मैं सदा उदित एवं प्रकाशमान हूँ, कभी अस्त नहीं होता। मैं ज्ञान रूपी अमृत एवं समरस आकाश के समान व्यापक हूँ। मेरे से भिन्न दूसरा नहीं है।

निष्कामकाममिह नाम कथं वदामि,
निःसंगसंगमिह नाम कथं वदामि।
निःसाररसाररहितं च कथं वदामि,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥४॥

अनुवाद— मैं आत्म स्वरूप होने से ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ फिर अपने को निष्काम एवं कामना नाम वाला किस प्रकार कहूँ, निःसंग एवं संग वाला भी किस प्रकार कहूँ, और निःसार और सार रहित भी किस प्रकार कहूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा होने से स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही हूँ जो ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य सर्व व्यापक है। इसमें द्वैत है ही नहीं फिर इसे निष्काम एवं कामना वाले निःसंग एवं संग वाले नाम से कैसे कहा जा सकता है। यह एक ही है इसलिए इसे निःसार एवं सार रहित भी कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि इस प्रकार का कथन द्वैत में ही सम्भव है। एक ही होने पर इस प्रकार का कथन नहीं हो सकता।

अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि,
द्वैतस्वरूप मखिलं हि कथं वदामि।
नित्यंत्वनित्यं मखिलं हि कथं वदामि,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥५॥

अनुवाद— *इस सम्पूर्ण जगत को मैं अद्वैत रूप कैसे कहूँ, इस सम्पूर्ण जगत को मैं द्वैत स्वरूप कैसे कहूँ, इस सम्पूर्ण जगत को नित्य अथवा अनित्य कैसे कहूँ। मैं ज्ञानामृत समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्म स्वरूप होने से ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश के समान सर्व व्यापक हूँ तथा एक ही हूँ। यह समस्त सृष्टि मेरा ही विस्तार है। इसमें कहीं भी द्वैत नहीं है जिससे इस सम्पूर्ण जगत को अद्वैत भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि द्वैत होने पर ही अद्वैत कहा जा सकता है। इसी प्रकार इसे न नित्य कहा जा सकता है न अनित्य। सर्वत्र एक ही आत्मा का विस्तार है। दूसरा कुछ है ही नहीं।

स्थूलं हि नो नहि कृशं न गतागतं हि,
आद्यन्तमध्यरहितं न परापरं हि।
सत्यं वदामि खलु वै परमार्थ तत्त्वं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥६॥

अनुवाद— *हमारी आत्मा स्थूल भी नहीं है, न सूक्ष्म है, न गमनानगमन वाला ही है, यह आदि, अन्त और मध्य से रहित है, पर ऊपर से भी रहित है। मैं निश्चय ही सत्य कहता हूँ कि मैं परमार्थ तत्व, ज्ञानामृत, एकरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी शिष्य को कहते हैं कि हमारा यह आत्मा न तो स्थूल पदार्थ जैसा है न सूक्ष्म अणु जैसा, यह गमनागमन से रहित है, न कहीं आता है, न जाता है। इसका न आरम्भ है, न अन्त है, न यह मध्य में ही है। यह सर्वकाल एवं स्थान में है। इसे पर् एवं अपर भी नहीं कहा जा सकता। यह परमार्थ तत्व, ज्ञानामृत, एकरस एवं गगन के समान व्यापक है, यह मैं सत्य कहता हूँ।

संविद्धि सर्वकरणानि नभोनिभानि,
संविद्धि सर्वविषयांच नभोनिभांश्च।
संविद्धि चैकममलं न हि बन्धमुक्तं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥७॥

अनुवाद— *सम्पूर्ण करणों को (इन्द्रियों को) तू आकाश की भाँति शून्य जान और सम्पूर्ण विषयों को तू आकाश के तुल्य शून्य जान, एक आत्मा को ही मायामल से रहित तू जान जो बन्धन और मुक्ति से रहित है वही मैं हूँ जो ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि ये जितनी भी इन्द्रियाँ तथा इनके जो भोग के विषय हैं वे सब आकाश की भाँति शून्य हैं। ये वास्तविक नहीं है। केवल एक आत्मा ही शुद्ध है, माया के मल से दूषित नहीं है तथा बन्धन एवं मुक्ति से रहित है ऐसा तू जान। वही आत्मा मैं हूँ जो ज्ञानामृत रूप, समरस एवं आकाश के समान व्यापक है।

दुर्बोध बोध गहनो न भवामि तत,
दुर्लक्ष्यलक्ष्य गहनो न भवामि तात।
आसन्नरूप गहनो न भवामि तात,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥८॥

अनुवाद— *हे तात! बोध स्वरूप आत्मा का ज्ञान बड़ा दुर्बोध है तथा गम्भीर है, वह मैं नहीं हूँ। वह दुर्लक्ष्य है, इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता उसे जानना भी गम्भीर है, सो मैं नहीं हूँ। वह अति समीप है फिर भी उसको जानना गम्भीर है, वह मैं नहीं हूँ। मैं समरस, ज्ञानामृत एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने शिष्य को कहते हैं कि हे तात! यह आत्मा स्वयं बोध स्वरूप है इसलिए इसका जानना बड़ा कठिन है

क्योंकि जिससे सब कुछ जाना जाता है, उसे जानने वाला दूसरा कोई है ही नहीं, जो उसे जाने इसलिए इस दुर्बोध आत्मा का ज्ञान बड़ा गम्भीर है। मैं इसे जानने वाला नहीं हूँ, यह आत्मा दुर्लक्ष्य है, किसी भी इन्द्रिय से देखा नहीं जा सकता इसलिए इसका देखना भी बड़ा गहन है, कठिन है, मैं देखने वाला भी नहीं हूँ क्योंकि मैं आत्मा से भिन्न नहीं हूँ जबकि देखने वाला उससे भिन्न होना चाहिए, सो मैं नहीं हूँ। जिसका रूप, मन, बुद्धि के अति समीप है फिर भी उसका जानना कठिन है क्योंकि उसे मन बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता। मैं स्वयं आत्मा होने से उससे भिन्न नहीं हूँ इसलिए उसे जानने वाला भी मैं नहीं हूँ। मैं स्वयं समरस, ज्ञानामृत तथा आकाश स्वरूप आत्मा ही हूँ। भाव यह है कि जो स्वयं आत्मा ही है वह आत्मा को कैसे जाने। जानने वाला भिन्न होने पर ही उसे जानने की बात कह सकता है।

निष्कर्षकर्मदहनो ज्वलनो भवामि,
निर्दुःखर्दुखदहनो ज्वलनो भवामि।
निर्देहदेह दहनो ज्वलनो भवामि,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥९॥

अनुवाद—*मैं कर्म से रहित हूँ फिर भी मैं कर्मों का दाहक अग्नि हूँ, मैं दुःखों से रहित हूँ फिर भी दुःखों का दाहक अग्नि हूँ, मैं देह से रहित हूँ फिर भी देह का दाहक अग्नि हूँ। मैं ज्ञानामृत समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—आत्मा चूँकि कर्मों से रहित है किन्तु आत्मा के ज्ञान से वह सभी कर्मों को भस्म करने वाला अग्नि है। वह दुःखों से रहित है किन्तु उसके ज्ञान से वह सभी दुःखों का अन्त करने वाला है। वह स्वयं देह रहित है किन्तु उसके ज्ञान से सभी देहों का नाश हो जाता है अर्थात् आत्मज्ञान के बाद मनुष्य का देह भाव नष्ट हो जाता है, शरीर के प्रति जो उसकी आसक्ति होती है, वह शरीर को ही अपना स्वरूप समझता था,

यह भाव ही नष्ट हो जाता है कि जिससे वह स्वयं को आत्मा ही मानने लग जाता है। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं स्वयं आत्मभाव में स्थित हूँ जिससे ज्ञान रूपी अमृत, एकरस एवं आकाश के तुल्य व्यापक हूँ। शरीर, कर्म एवं दु:खों को मैंने भस्म कर दिया है।

निष्पापपापदहनो हि हुताशनोऽहं,
निधर्मधर्मदहनो हि हुताशनोऽहं।
निर्बन्धबन्धदहनो हि हुताशनोऽहं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१०॥

अनुवाद— *मैं निष्पाप हूँ, फिर भी पापों को नष्ट करने में मैं अग्नि रूप हूँ, मैं निधर्म हूँ फिर भी धर्म और अधर्म को जलाने में मैं अग्नि रूप हूँ, मैं निर्बन्ध होते हुए भी बन्धनों को जलाने में अग्नि रूप हूँ। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश के समान हूँ।*

व्याख्या—आत्मा चूँकि स्वयं निष्पाप है किन्तु वह सभी पापों को नष्ट करने में अग्नि के समान है। आत्मज्ञान के बाद मनुष्य के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। वह स्वयं बिना धर्म वाला है, निर्गुण है। सभी गुण प्रकृति के हैं जो आत्मज्ञान के बाद नष्ट हो जाते हैं व आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, आत्मा किसी बन्धन में नहीं है, स्वतन्त्र है किन्तु उसके ज्ञान से सभी बन्धन टूट जाते हैं। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं वही आत्मा हूँ जो समरस, ज्ञान रूपी अमृत एवं आकाश के समान निर्लिप्त हूँ।

निर्भावभावरहितो न भवामि वत्स,
निर्योगयोग रहितो न भवामि वत्स।
निश्चित्तचित्त रहितो न भवामि वत्स,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥११॥

अनुवाद— *हे वत्स! मैं निर्भाव होते हुए भी भाव से रहित हूँ,*

मैं निर्योग होकर भी योग से रहित नहीं हूँ, मैं बिना चित्त वाला होकर भी चित्त से रहित नहीं हूँ। मैं ज्ञानामृत, एकरस तथा आकाश की उपमा वाला हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे वत्स! मैं आत्मा होने से सभी प्रकार के भावों से रहित हूँ फिर भी सभी भाव मेरे में ही हैं इसलिए मैं भावों से रहित भी नहीं हूँ। मैं निर्योग हूँ। चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है किन्तु न मैं चित्त हूँ न उसकी वृत्तियाँ ही हूँ इसलिए मेरा निरोध न होने से मैं योग नहीं हूँ किन्तु सम्पूर्ण जगत का निरोध मेरे में ही होता है इसलिए मैं योग रहित भी नहीं हूँ। योग से मेरी ही उपलब्धि होती है इसलिए मैं ही पूर्ण योग हूँ। मैं बिना चित्त वाला हूँ। चित्त (मन) से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु यह चित्त मेरे में ही है इसलिए मैं चित्त रहित भी नहीं हूँ। मैं आत्म स्वरूप होने से समरस, ज्ञानामृत एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।

निर्मोहमोहपदवीति न मे विकल्पो,
निःशोकशोकपदवीति न मे विकल्पः।
निर्लोभलोभपदवीति न मे विकल्पो,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१२॥

अनुवाद— *मेरे में निर्मोह अथवा मोह वाला विकल्प नहीं है, शोकरहित अथवा शोक वाला विकल्प भी मेरे में नहीं है, निर्लोभ अथवा लोभ वाला विकल्प भी मेरे में नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि स्वयं आत्मा होने से, मेरे में निर्मोह अथवा मोह, बिना शोक वाला अथवा शोक वाला तथा बिना लोभ वाला व लोभ वाला जैसा विकल्प ही नहीं है। ये सब विकल्प मन के धर्म हैं। संकल्प विकल्प उसी का कार्य है, आत्मा का नहीं। मैं आत्म स्वरूप होने से ज्ञानामृत समरस एवं आकाश तुल्य व्यापक हूँ।

संसारसंततिलता न च मे कदाचित्,
संतोषसंततिसुखं न च मे कदाचित्।
अज्ञानबन्धनमिदं न च मे कदाचित्,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१३॥

अनुवाद— *संसार की संतति रूपी लता मेरे में नहीं है, सन्तोष रूपी संतति का सुख भी मेरे में नहीं है, ये अज्ञान के बन्धन भी मेरे में नहीं है। मैं एकरस, ज्ञानामृत एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जन्म-मरण एवं पुनर्जन्म तथा कर्मफलों के भोग का अन्त न होने से यह संसार रूपी लता निरन्तर बढ़ती जाती है जो कर्मों की ही संतति है, किन्तु मैं आत्मा होने से इन सबसे रहित हूँ। दुनिया में सन्तोष की संतति सुख है, सन्तोषी को ही सुख मिलता है किन्तु यह सुख भी मेरे में नहीं है क्योंकि मैं स्वयं सुख स्वरूप हूँ, संसार में बन्धन है जो अज्ञान के ही कारण है किन्तु मैं स्वयं ज्ञान हूँ इसलिए ये बन्धन भी मेरे नहीं हैं। मैं इन सबसे रहित केवल एकमात्र चेतन तत्व हूँ। मैं सदा एकरस, ज्ञानामृत एवं आकाश रूप हूँ।

संसारसंततिरजो न च मे विकारः,
सन्तापसंततिमो न च मे विकारः।
सत्त्वं स्वधर्मजनको न च मे विकारो,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१४॥

अनुवाद— *संसार की संतति रज (रजोगुण) है यह विकार मेरे में नहीं है, सन्ताप की संतति तम (तमोगुण) है वह भी विकार मेरे में नहीं है, स्वधर्म का जनक सत्त्व (सतोगुण) है वह विकार भी मेरे में नहीं है। मैं ज्ञानामृत, एकरस तथा आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—इस सूत्र में दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा हूँ

जिससे मैं चैतन्य पुरुष हूँ। यह संसार प्रकृति जन्य है। प्रकृति सत्व, रज एवं तमोगुण वाली है जिससे संसार इन तीनों गुणों वाला है। ये गुण विकार स्वरूप है जिससे सृष्टि रचना होती है। यह संसार प्रकृति के रजोगुण से उत्पन्न होता है, तमोगुण के कारण ही व्यक्ति संताप करता है तथा सत्व गुण से व्यक्ति स्वधर्म में स्थित रहता है। ये तीनों गुण प्रकृति के ही हैं जिससे यह संसार चल रहा है। मैं प्रकृति नहीं हूँ इसलिए इन तीनों गुणों से रहित हूँ। ये विकार मेरे में नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला आत्मा हूँ।

सन्तापदुःखजनको न विधि कदाचित्,
सन्तापयोगजनितं न च मे कदाचित्।
यस्मादहङ्कृतिरियं न च मे कदाचित्,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१५॥

अनुवाद— *सन्ताप रूपी दुःख की जनक जो विधि है वह मैं नहीं हूँ, सन्ताप के योग से उत्पन्न हुआ मन भी मैं नहीं हूँ, जिससे यह अहंकार भी मेरा नहीं है। मैं ज्ञानामृत, एकरस तथा आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि सन्ताप रूपी दुःख की कई विधियाँ हैं। मनुष्य अज्ञानवश इन विधियों को स्वार्थ हित अपनाता है। वह समझता है कि इन विधियों से उसे सुख मिलेगा किन्तु इनसे उसे सन्ताप रूपी दुःख ही प्राप्त होता है। ये विधियाँ अहंकार, वासना, मोह, ममता आदि हैं जिनसे लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि ही प्राप्त होती है जिनसे संताप बढ़ते ही हैं। ये विधियाँ अहंकार एवं मन की उपज है किन्तु मैं मन नहीं होने से मैं ये विधियाँ नहीं हूँ। मैं आत्मा होने से मेरी कोई विधियाँ नहीं हैं। मन नहीं हूँ। इससे भिन्न चेतन तत्व हूँ, साथ ही अहंकार भी मैं नहीं हूँ। ये सब चित्त के ही धर्म हैं, मेरे नहीं हैं। मैं ज्ञानामृत, एकरस तथा गगन के समान हूँ।

निष्कम्पकम्पनिधनं न विकल्पकल्पं,
स्वप्नप्रबोधनिधनं न हिताहितं हि।
निःसारसारनिधनं न चराचरं हि,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१६॥

अनुवाद— *मैं कम्पन रहित और कम्पन का नाश करने वाला नहीं हूँ, न संकल्प और विकल्प ही हूँ, स्वप्न और जाग्रत का नाश करने वाला भी नहीं हूँ, न हित और अहित ही हूँ, मैं निःसार और सार का नाश करने वाला भी नहीं हूँ तथा चर एवं अचर भी नहीं हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत, एकरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं कम्पन से रहित सदा अकम्प हूँ। ये कम्प और अकम्प प्रकृति के गुणों से ही होते हैं, संकल्प और विकल्प भी मन के धर्म हैं, मेरे धर्म नहीं हैं, इसी प्रकार स्वप्न एवं जाग्रति भी मन के ही धर्म हैं, हित और अहित की कल्पना भी मन में ही होती है, सार और निःसार का भाव भी मन के धर्म हैं। मैं मन के पार शुद्ध आत्म स्वरूप हूँ जिससे ये सभी मेरे नहीं हैं। मैं केवल ज्ञान स्वरूप, एकरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।

नो वैद्यवेदकमिदं न च हेतुतर्क्यं,
वाचामगोचरमिदं न मनो न बुद्धिः।
एवं कथं हि भक्तः कथयामि तत्वम्,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१७॥

अनुवाद— *यह (आत्मा, ब्रह्म) किसी से नहीं जाना जाता, यह (स्वयं) जानने वाला है। यह तर्क का हेतु भी नहीं है, वाणी का विषय भी नहीं है, दिखाई भी नहीं देता, मन और बुद्धि भी इसे नहीं जान सकती। इसलिए मैं तुम्हारे को इस तत्व का किस प्रकार कथन करूँ। मैं ज्ञानामृत, एकरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह आत्मतत्व (ब्रह्म) इतना सूक्ष्म है कि यह तर्क, मन एवं बुद्धि का विषय ही नहीं है जिनसे इसे जाना जावे अथवा प्रमाणित किया जा सके। इस कारण इसका वाणी द्वारा वर्णन भी नहीं किया जा सकता। फिर यह स्वयं जानने वाला है, स्वयं ज्ञान स्वरूप है फिर दूसरा कौन ऐसा है जो इसे जाने। संसार का सारा ज्ञान इसी से होता है, फिर इसका ज्ञान किससे हो सकता है अर्थात किसी के द्वारा सम्भव नहीं है। इसलिए मैं भी इसका वर्णन किस प्रकार करूँ। मैं स्वयं आत्मा होने से ब्रह्म ही हूँ, दूसरा कुछ है ही नहीं जो उसका वर्णन करे। मैं स्वयं ज्ञानामृत, एकरस, गगन तुल्य ब्रह्म ही हूँ।

निर्भिन्नभिन्नरहितं परमार्थतत्त्व-
मन्तर्बहिर्न हि कथं परमार्थतत्त्वम्।
प्राक्संभवं न च रतं न हि वस्तु किंचित्
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१८॥

अनुवाद— *यह परमार्थ तत्व भेद और अभेद से रहित है, भीतर और बाहर का भेद भी इसमें नहीं है उस परमार्थ तत्व का कथन किस प्रकार है। यह पूर्व में था ऐसा भी नहीं है न यह किसी में लिप्त है न यह कोई पदार्थ ही है। मैं स्वयं ज्ञानामृत, एकरस, आकाशतुल्य व्यापक ब्रह्म ही हूँ।*

व्याख्या—ब्रह्म एक परमार्थ तत्व है जो सभी प्रकार की भिन्नताओं से रहित है तथा अभिन्न भी नहीं है, उसमें भीतर बाहर का भी भेद नहीं है क्योंकि वह सर्वत्र, सर्वव्यापी है, वह सृष्टि के पूर्व में था अब नहीं है ऐसा भी नहीं है, न यह किसी में लिप्त है, न कोई पदार्थ ही है। ऐसे परमार्थ तत्व का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है। मैं ऐसा ही ब्रह्म तत्व हूँ जो ज्ञानामृत, समरस एवं व्यापक हूँ।

रागादि दोषरहितं त्वहमेव तत्त्वं,
दैवादिदोष रहितं त्वहमेव तत्त्वं।
संसारशोक रहितं त्वहमेव तत्त्वं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१९॥

अनुवाद— *रागादि दोषों से रहित मैं ही आत्मतत्व हूँ, दैव आदि दोषों से रहित मैं ही आत्मतत्व हूँ, सांसारिक शोक से रहित मैं ही आत्मतत्व हूँ। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश के समान हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मतत्व हूँ जो सभी प्रकार के रोग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, प्रेम आदि से रहित हूँ, मैं दैविक दोषों से भी रहित हूँ, सांसारिक शोक से भी रहित हूँ। ये सभी दोष मन एवं शरीर के हैं किन्तु मैं इनसे भिन्न आत्मतत्व हूँ जिससे मेरा इनसे सम्बन्ध नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य इनसे भिन्न हूँ।

स्थानत्रयं यदि च नेति कथं तुरीयं,
कालत्रयं यदि च नेति कथं दिशश्च।
शान्तं पदं हि परमं परमार्थतत्त्वम्,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥२०॥

अनुवाद— *आत्मा में स्थान त्रय (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) नहीं है फिर तुरीय अवस्था कैसे हो सकती है। तीनों काल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) भी नहीं है फिर दिशाएँ कैसे हो सकती हैं। यह आत्मा (ब्रह्म) शान्त पद वाला, परम परमार्थ तत्व है। मैं ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश तुल्य हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मरूप हूँ इसलिए मेरे में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय जैसी अवस्थाएँ भी नहीं हैं। ये मन की ही अवस्थाएँ हैं। तीनों कालों एवं दिशाओं का भेद भी मेरे में नहीं है। मैं एक ही शान्त पद वाला परम परमार्थ तत्व हूँ, ज्ञानामृत, समरस एवं आकश तुल्य हूँ।

दीर्घो लघुः पुनरितहि न मे विभागो,
विस्तारसंकटमितहि न मे विभागः।
कोणं हि वर्तुलमितहि न मे विभागो,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥२१॥

अनुवाद—*फिर इस लोक में बड़े और छोटे का विभाग भी मेरे में नहीं है, विस्तार और संकोच का विभाग भी मेरे में नहीं है, कोण और गोलाकार का विभाग भी मेरे में नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्म स्वरूप होने से एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ। मेरे में बड़े-छोटे, विस्तार एवं संकोच, कोण एवं वर्तुल आदि का कोई विभाग नहीं है। ये विभाग सभी बाहरी हैं। आत्मा में न कोई विभाग है, न भेद।

माता पितादि तनयादि न मे कदाचित्,
जातंमृतं न च मनो न च मे कदाचित्।
निर्व्याकुलं स्थिरमिदं परमार्थतत्त्वं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥२२॥

अनुवाद—*मेरे माता पिता आदि तथा पुत्रादि भी नहीं हैं, न मैं उत्पन्न हुआ हूँ, न मरता ही हूँ। मेरा मन भी नहीं है। मैं व्याकुलता से रहित एवं स्थिर यही परमार्थ तत्व हूँ जो ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश के तुल्य हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं आत्मा ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य है। सम्पूर्ण सृष्टि आत्मा है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है इसलिए न उसके कोई माता पिता हैं, न पुत्र आदि ही है, न वह जन्मता है, न मरता ही है। मैं वही आत्मा हूँ, मैं मन भी नहीं हूँ इसलिए मैं व्याकुल भी नहीं होता। व्याकुल केवल मन ही होता है, आत्मा कभी व्याकुल नहीं होता। मैं वही परमार्थ तत्व (आत्मा) हूँ।

शुद्धं विशुद्धमविचारमनन्तरूपं,
निर्लेपलेपम विचारमनन्त रूपं।
निष्खण्डखण्डमविचारमनन्तरूपं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥२३॥

अनुवाद— *मैं शुद्ध हूँ, विशुद्ध हूँ, विचार रहित व अनन्त रूप हूँ। निर्लेप होकर भी सबमें लिप्त हूँ, सभी पदार्थों में मैं अखण्ड हूँ। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा होने से शुद्ध एवं विकार रहित, विचार रहित व अनन्त रूप हूँ। ये सभी रूप मेरे हैं किन्तु मैं रूप नहीं हूँ, अरूप हूँ, मैं किसी में लिप्त नहीं होता फिर भी सबमें मैं ही हूँ। सभी पदार्थों में मैं ही एक अखण्ड तत्व हूँ जिसका कभी खण्डन नहीं किया जा सकता, विभाजन नहीं हो सकता। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य सर्वत्र हूँ।

ब्रह्मादयः सुरगणाः कथयत्रसन्ति,
स्वर्गायदो वसतयः कथमत्रसन्ति।
यद्येकरूपममलं परमार्थ तत्त्वं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥२४॥

अनुवाद— *यदि यह ब्रह्म एक रूप, मल रहित (शुद्ध), एवं परमार्थ तत्व है तो इसमें ब्रह्मा आदि से लेकर देवताओं के समूह किस प्रकार हो सकते हैं। स्वर्ग आदि बस्तियाँ भी इसमें किस प्रकार हो सकती हैं। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यदि वह ब्रह्म तत्व एक ही है, शुद्ध है एवं परमार्थ तत्व है तो फिर इसमें ब्रह्म, देवता-गण एवं स्वर्गादि की बस्तियाँ किस प्रकार हो सकती हैं। अर्थात इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता कैसे हो सकती है। ये सभी वास्तव में उसी के विभिन्न रूप हैं जो उससे

भिन्न नहीं हैं। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।

निर्नेतिनेतिविमलो हि कथं वदामि,
निःशेषशेषविमलो हि कथं वदामि।
निर्लिंगलिंगविमले हि कथं वदामि,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २५॥

अनुवाद— *इस विमल को निर्नेति अथवा नेति किस प्रकार मैं कहूँ, इसे निःशेष और शेष भी किस प्रकार कहूँ, इसे निर्लिंग तथा लिंग रूप भी किस प्रकार कहूँ। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या— श्रुति ब्रह्म को 'नेति नेति', 'शेष' तथा 'लिंग' स्वरूप से ब्रह्म का कथन करती है किन्तु दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जब वह एक ही विमल ब्रह्म सर्वव्याप्त है, उससे भिन्न कोई दूसरा है ही नहीं तो उसके लिए नियति एवं नेति, निःशेष और शेष तथा निर्लिग और लिंग स्वरूप का कथन नहीं हो सकता। एक रूप वाला कहने से दूसरे रूप की भावना अपने आप हो जाती है। जब दूसरा विद्यमान ही नहीं है फिर किसी एक नाम से उसे कैसे सम्बोधित किया जा सकता है। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।

निष्कर्म कर्मपरमं सततं करोमि,
निःसंगसंगरहितं परमो विनोदम्।
निर्देहदेहरहितं सततं विनोदं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २६॥

अनुवाद— *मैं कर्म से रहित हूँ फिर भी परमकर्म को निरन्तर करता हूँ, मैं निःसंग और संग दोनों से रहित हूँ फिर भी विनोद करता हूँ, मैं निर्देह और देह दोनों से रहित हूँ फिर भी सदा आनन्द में रहता हूँ। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।*

व्याख्या—आत्मा स्वयं कर्म नहीं करता, वह निष्कर्म है, अकर्ता है किन्तु दुनिया के सभी कर्म उसी से होते हैं, वह न निःसंग है, न उसका किसी से संग है फिर भी विनोद रूप में वह सभी के संग है, वासना के कारण संग नहीं है। वह निर्देह एवं देह दोनों से रहित है फिर भी सदा आनन्द में रहता है। उसकी सारी क्रियाएँ विनोद रूप, लीलावश ही होती हैं, वासना एवं कामना से नहीं होतीं। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं वही आत्मरूप हूँ जो ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य है।

मायाप्रपंचरचना न च मे विकारः,
कौटिल्य दम्भरचना न च मे विकारः।
सत्यानृतेति रचना न च मे विकारो,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥२७॥

अनुवाद— *मायारूपी प्रपंच की रचना मेरा विकार नहीं है, कुटिलता और दम्भ की रचना मेरी विकार नहीं है, सत्य और मिथ्या की रचना मेरा विकार नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—ब्रह्म शुद्ध चेतन तत्व है उसमें कोई विकार है ही नहीं। ये समस्त विकार प्रकृति के हैं। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं शुद्ध आत्म स्वरूप हूँ, ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ। मेरे में ये माया (प्रकृति) रूपी प्रपंच की जो रचना है, उनके विकार नहीं हैं। यह सृष्टि माया की ही रचना है। कुटिलता और दम्भ की रचना मन का ही विकार है, मेरा नहीं है। सत्य और मिथ्या की रचना भी मेरे विकार नहीं है। मैं इन सभी रचना विकारों से परे चेतन मात्र हूँ।

सन्ध्यादिकाल रहितं न च मे वियोगो,
ह्यन्तःप्रबोधरहितं बधिरो न मूकः।
एवं विकल्परहितं न च भावशुद्धिं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥२८॥

अनुवाद— मैं सन्ध्यादि काल से रहित हूँ फिर भी उनसे वियोग नहीं है, आन्तरिक बोध से रहित हूँ फिर भी मूक और बधिर नहीं हूँ, विकल्प से रहित हूँ फिर भी चित्त से शुद्ध नहीं हूँ। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा (ब्रह्म) होने से सन्ध्या, मध्याह्न, प्रात: आदि कालों से रहित हूँ किन्तु इनसे मेरा वियोग भी नहीं है अर्थात काल भी मैं ही हूँ, मैं आंतरिक ज्ञान से रहित हूँ फिर भी गूँगा-बहरा नहीं हूँ, मैं ही पूर्ण ज्ञान हूँ। मैं सभी विकल्पों से रहित हूँ, किन्तु चित्त शुद्धि मेरे में नहीं है क्योंकि मैं चित्त नहीं हूँ। मैं पूर्ण ज्ञान स्वरूप, एकरस तथा आकाश तुल्य हूँ।

निनर्थिनाथरहितं हि निराकुलं वै,
निश्चित्तचित्तविगतं हि निराकुलं वै।
संविद्धि सर्वविगतं हि निराकुलं वै,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥२९॥

अनुवाद— मेरा कोई स्वामी नहीं है न मैं किसी का स्वामी ही हूँ, मेरा कोई कुल भी नहीं है। मैं बिना चित्तवाला हूँ, न मेरा कोई चित्त ही है, मैं व्याकुलता से रहित हूँ। निश्चय जान कि मैं सर्व से रहित हूँ फिर भी सर्वगत हूँ। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्म स्वरूप हूँ इसलिये मेरा कोई स्वामी नहीं है न मैं किसी का स्वामी ही हूँ क्योंकि मैं एक ही हूँ। मेरा कोई कुल भी नहीं है। मैं बिना चित्त वाला हूँ, न मेरा कोई चित्त ही है इसलिए मैं व्याकुलता से रहित हूँ क्योंकि व्याकुलता चित्त का ही गुण है। मैं सर्व से रहित हूँ फिर भी सर्वगत हूँ, सबमें मैं ही हूँ किन्तु मेरा कोई नहीं है। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।

कान्तारमन्दिरमिदं हि कथं वदामि,
संसिद्धसंशयमिदं हि कथं वदामि।
एवं निरन्तरसमं हि निराकुलं वै,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥३०॥

अनुवाद— मैं इस जगत को निर्जन वन का मन्दिर किस प्रकार कहूँ, मैं इसे संशय से युक्त भी किस प्रकार कहूँ तथा इसे निरन्तर, सम तथा निराकुल भी किस प्रकार कहूँ। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्म रूप होने से ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश के तुल्य सर्वव्यापक हूँ फिर मैं इस जगत को शून्य मन्दिर किस प्रकार कहूँ, यह संशय युक्त है ऐसा भी मैं नहीं कह सकता, न यह कह सकता हूँ कि यह निरन्तर, सम एवं निराकुल है। क्योंकि संसार और मेरे में भेद होने से ही ऐसा कथन हो सकता है। मैं ही सब कुछ हूँ फिर इस जगत को अपने से भिन्न मानकर इस प्रकार का कथन कैसे करूँ। मैं आकाशतुल्य सर्वव्याप्त हूँ।

निर्जीवजीव रहितं सततं विभाति,
निर्बीजबीज रहितं सततं विभाति।
निर्वाण बन्ध रहितं सततं विभाति,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥३१॥

अनुवाद— मुझे बराबर दिखाई देता है कि यह जगत निर्जीव और जीव (जड़ और चेतन) से रहित है, निर्बीज और बीज से रहित है तथा निर्वाण (मोक्ष) एवं बन्धन से रहित है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मुझे सतत यह दिखाई दे रहा है कि यह जगत न जड़ है, न चेतन, न निर्बीज से रहित है, न बीज के

रहित ही है, यह निर्वाण एवं बन्ध से भी रहित है क्योंकि यह एक ही ब्रह्मतत्व सर्वव्याप्त है जिसमें इस प्रकार भेद की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मैं ही सर्वत्र आत्म रूप में ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य व्याप्त हूँ।

संभूतिवर्जितमिंदं सततं विभाति,
संसारवर्जितमिंदं सततं विभाति।
संहारवर्जितमिदं सततं विभाति,
ज्ञानामृत समरसं गगनोपमोऽहम्॥३२॥

अनुवाद—*मुझे निरन्तर भान होता है कि यह जगत संभूति रहित है, संसार से रहित है, नाश से रह़ित है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह जगत संभूति रहित है, इसका न जन्म हुआ है न यह किसी अप्रकट का प्रकट रूप ही है, यह संसार जैसी वस्तु से भी रहित है क्योंकि मुझे सर्वत्र ब्रह्म ही दिखाई देता है, यह ब्रह्म होने से नाश रहित भी है क्योंकि ब्रह्म न तो प्रकट होता है न उसका संहार ही होता है। मैं ऐसा ही ब्रह्म स्वरूप ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।

उल्लेखमात्रमपि ते न च नामरूपं,
विर्भिन्नभिन्नमपि ते न हि वस्तु किंचित।
निर्लज्जमानस करोति कथं विषादं,
ज्ञानामृत समरसं गगनोपमोऽहम्॥३३॥

अनुवाद—*उल्लेख मात्र भी तेरा नाम और रूप नहीं है, तेरे से भिन्न और अभिन्न भी कोई वस्तु नहीं है। फिर हे निर्लज्ज मन! तू क्यों विषाद करता है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने मन को कहते हैं कि वही एक ब्रह्म

सर्व व्याप्त है। यह नाम रूप जगत थोड़ा सा भी नहीं है, यह भ्रांति मात्र है। न इस जगत में कोई ऐसी वस्तु है जिसे ब्रह्म से भिन्न अथवा अभिन्न कहा जाए क्योंकि सब वही ब्रह्म है। फिर हे निर्लज्ज मन! तू किसलिए विवाद करता है। मैं ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।

किं नाम रोदिषि सखे न जरा न मृत्युः,
किं नाम रोदिषि सखे न च जन्म दुःखम्।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विकारो,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३४॥

अनुवाद— *हे सखे! अपने नाम के लिए (प्रसिद्धि के लिए) तू क्यों रूदन करता है क्योंकि तेरा न बुढ़ापा है, न मृत्यु, न तेरा जन्म है, न दुःख, तेरे कोई विकार भी नहीं हैं। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य इन सबसे परे हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने मन को कहते हैं कि हे सखे! अपनी प्रसिद्धि के लिए तू क्यों रूदन करता है क्योंकि तू कभी नष्ट होता ही नहीं। यह जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, दुःख, विकार आदि तेरे नहीं हैं। तू एक ही ब्रह्म रूप है जो इन सबसे परे है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य ब्रह्म ही हूँ।

किं नामरोदिषि सखे न च ते स्वरूपं,
किं नामरोदिषि सखे न च ते विरूपम्।
किं नामरोदिषि सखे न च ते वयांसि,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३५॥

अनुवाद— *हे सखे! तू किस काम के लिए रूदन करता है, न तेरा कोई स्वरूप है, न तेरा रूप ही नष्ट होने वाला है, तेरी आयु भी नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने आप से कहते हैं कि हे सखे! तू

किस नाम के लिए रूदन करता है। न तो यह शरीर, इन्द्रियाँ आदि तेरा स्वरूप है, न तेरा रूप ही नष्ट होने वाला है क्योंकि तेरा एक ही रूप वह ब्रह्म चेतन आत्मा है जो कभी नष्ट नहीं होता, आत्मा की कोई आयु भी नहीं है, वह अजर, अमर एवं शाश्वत है। आयु शरीर की होती है जो तेरा स्वरूप नहीं है। तू एक ही ज्ञानरूपी अमृत, समरस एवं आकाश तुल्य है, ऐसा मान।

किं नामरोदिषि सखे न च ते वयांसि,
किं नामरोदिषि सखे न च ते मनांसि।
किं नामरोदिषि सखे न तवेन्द्रियाणि,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३६॥

अनुवाद—*हे सखे! तू किस वास्ते रूदन करता है, न तो तेरी आयु है, न मन है न ये इन्द्रियाँ ही तुम्हारी हैं। मैं ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश तुल्य हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे सखे! तू किस कारण से रूदन करता है। तू आत्म स्वरूप है। यह शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि तुम्हारे नहीं हैं न यह आयु ही तुम्हारी है कि तू इसकी समाप्ति पर नहीं रहेगा। तू आत्म स्वरूप होने से ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला है। वही मैं हूँ।

किं नामरोदिषि सखे न च तेऽस्तिकामः,
किं नामरोदिषि सखे न च ते प्रलोभः।
किं नामरोदिषि सखे न च ते विमोहो,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३७॥

अनुवाद—*हे सखे! तू किसलिए रूदन करता है, तू काम (कामना) भी नहीं है, न तूरा लोभ ही है, विमोह भी तेरा नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ ऐसा जान।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी स्वयं को कहते हैं कि हे सखे! तू किस कारण से रूदन करता है। ये कामनाएँ, इच्छाएँ, लोभ, मोह आदि अन्त:करण के धर्म हैं। तू आत्मा होने से इन सबसे भिन्न है। तू ज्ञान स्वरूप, समरस तथा आकाश तुल्य है ऐसा जान। मैं आत्मा हूँ।

ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते धनानि,
ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते हि पत्नी।
ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते ममेति,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३८॥

अनुवाद— तू ऐश्वर्य की किस प्रकार इच्छा करता है। ये धन तेरा नहीं है, पत्नि भी तेरी नहीं है, तेरा मेरा ऐसा कहना भी नहीं है। तू ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला आत्मा है वही मैं हूँ ऐसा जान।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह धन, पत्नी आदि तेरे नहीं हैं फिर भी ऐश्वर्य की किस प्रकार इच्छा करता है यहाँ तक कि तू जिसे मेरापन अथवा 'मैं' कहता है। वह भी तेरा नहीं है। अहंकार के ही कारण तू 'मैं' कहता है। अन्यथा तू आत्म स्वरूप, समरस एवं आकाश तुल्य है।

लिंगप्रपंचजनुषी न च ते न मे च,
निर्लज्जमानसमिदं च विभाति भिन्नम्।
निर्भेदभेदरहितं न च ते न मे च,
ज्ञानामृत समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३९॥

अनुवाद— इस चिह्न रूपी जगत प्रपंच की उत्पत्ति न तेरे से हुई है न मेरे से, किन्तु इस लज्जा रहित मन को यह भिन्न प्रतीत होती है। यह निर्भेद और भेद रहित जगत भी न तेरा है, न मेरा। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह जगत लिंग प्रपंच युक्त है अर्थात विभिन्न रूपों वाला है। ये विभिन्नताएँ इस निर्लज्ज मन को ही दिखाई देती हैं किन्तु तेरे व मेरे में अर्थात आत्म स्वरूप में यह भिन्नता नहीं है। आत्मा में निर्भेद और भेद रहित की कल्पना भी नहीं है। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य आत्मा हूँ।

नो वाणुमात्रमपि ते हि विरागरूपं,
नो वाणुमात्रमपि ते हि सरागरूपम्।
नो वाणुमात्रमपि ते हि सकामरूपं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥४०॥

अनुवाद— *तेरा अणु मात्र भी विराग रूप नहीं है, तुम्हारा अणु मात्र भी राग रूप नहीं है, तेरा अणु मात्र भी सकाम रूप नहीं है। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मा राग, विराग एवं कामना से रहित है इसलिए तू भी आत्मा होने से तेरा अणु मात्र भी राग, विराग एवं सकाम भाव से युक्त नहीं है। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ।

ध्याता न ते हि हृदये न च ते समाधि,
ध्यानं न ते हि हृदये त बहिः प्रदेशः।
ध्येयं न चेति हृदये न हि वस्तुकालो,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥४१॥

अनुवाद— *तेरे हृदय में न कोई ध्याता है, न समाधि और ध्यान ही है। तेरे हृदय में बाह्य प्रदेश भी नहीं है, तेरे हृदय में न ध्येय ही है न काल जैसी कोई वस्तु ही है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि तू एक ही आत्मा है जिसमें

ध्याता, ध्यान और समाधि नहीं है क्योंकि एक में ध्याता ध्यान का भेद नहीं होता। तेरे हृदय में कोई बाह्य प्रदेश भी नहीं है जिससे तू भीतर किसी का ध्यान करे। न तेरे में काल जैसी कोई वस्तु ही है। तू ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य आत्मा है। वही मैं हूँ।

यत्सारभूतमखिलं कथितं मया ते,
न त्वं न मे न महतो न गुरुर्नशिष्यः।
स्वच्छन्दरूपसहजं परमार्थतत्त्वं,
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥४२॥

अनुवाद— मैंने जो सम्पूर्ण सारभूत था वह तुझे कह दिया है किन्तु यह सब न तेरा है, न मेरा है, महतत्व भी नहीं है न गुरु शिष्य ही है। यह सहज स्वच्छन्द रूप परमार्थ तत्व स्वरूप ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश तुल्य है। वह मैं हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जो कुछ मैंने तुझे कहा है, जिसका वर्णन किया है वह परमार्थ में नहीं है इसलिए न यह तेरा है, न मेरा। महतत्व, गुरु, शिष्य आदि का भेद भी परमार्थ में नहीं है। वह आत्मा सदा एक ही स्वाभाविक, स्वच्छन्द, ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश की उपमा वाला है। मैं वही आत्मा हूँ।

कथमिह परमार्थे तत्त्वमानन्दरूपं,
कथमिह परमार्थे नैवमानन्दरूपं।
कथमिह परमार्थे ज्ञानविज्ञान रूपं,
यदि परमहमेकं वर्तते व्योमरूपम्॥४३॥

अनुवाद— यदि मैं एक ही परम आकाश रूप हूँ तो उसमें परमार्थ, तत्व एवं आनन्दरूपता कैसे रहती है तथा उसमें परमार्थ एवं आनन्दरूप भी कैसे नहीं रहता है, उसमें ज्ञान-विज्ञान रूप भी कैसे रह सकता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि वह परमार्थ तत्व आत्मा एक ही है जो आकाश रूप है। उसमें भिन्नता किसी प्रकार से भी नहीं है। फिर उसमें परमार्थता, तत्व, आनन्द रूपता तथा ज्ञान-विज्ञान रूपता आदि का कथन कैसे हो सकता है। ये सभी उससे भिन्न नहीं है इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये उसमें नहीं है। भाव यह है कि ये सभी उसमें हैं किन्तु उससे अभिन्न हैं, उसी के विभिन्न नाम रूप हैं।

दहनपवनहीनं विद्धि विज्ञानमेकम्,
अवनिजलविहीनं विद्धि विज्ञानरूपम्।
समगमनविहीनं विद्धि विज्ञानमेकं,
गगनामिव विशालं विद्धि विज्ञानमेकम्॥४४॥

***अनुवाद**— यह आत्मा एक ही विज्ञान रूप है ऐसा तू जान; जो अग्नि और वायु से रहित, पृथ्वी और जल से रहित, आवागमन से रहित है। यह आकाश के समान विशाल है।*

व्याख्या—यह आत्मा एक ही विज्ञान स्वरूप तथा आकाश के समान विशाल है। यह अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल आदि से रहित तथा आवागमन से भी रहित है। वह न कहीं आता है, न जाता है तथा इन सभी रूपों से रहित है। ये रूप उससे प्रकट होते हैं किन्तु वह स्वयं अरूप है; ऐसा तू जान।

न शून्यरूपं न विशून्यरूपं,
न शुद्धरूपं न विशुद्धरूपम्।
रूपं विरूपं न भवामि किंचित्,
स्वरूपरूपं परमार्थतत्त्वम्॥४५॥

***अनुवाद**— मैं न शून्य रूप हूँ, न शून्य रहित रूप ही हूँ, न शुद्ध रूप हूँ, न विशुद्ध रूप हूँ, मैं किंचित् मात्र भी रूपं और विरूप नहीं हूँ। मैं एक ही परमार्थ तत्व अपने ही रूप वाला हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह आत्मा परमार्थ रूप में अपने ही रूप वाली है इसका अन्य कोई रूप है ही नहीं इसलिए इसे न तो शून्य रूप वाली कहा जा सकता है न अशून्य ही कहा जा सकता है क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि इसी के विभिन्न रूप हैं। इसको शुद्ध एवं विशुद्ध भी नहीं कहा जा सकता, न रूप और विरूप ही कहा जा सकता है। यह सभी प्रकार के रूपों से रहित है।

मुंच मुंच हि संसारं त्यागं मुंज हि सर्वथा।
त्यागात्यागविषं शुद्धममृतं सहजं ध्रुवम्॥४६॥

अनुवाद—तू स्वभाव से ही शुद्ध, अमृतरूप एवं नित्य है इसलिए तू संसार का त्याग कर दे तथा त्याग को भी सर्वदा छोड़ दे तथा त्याग और अत्याग की भावना विष के समान है उसे भी छोड़ दे।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जब तूने जान लिया कि तू आत्मा है जो शुद्ध, अमृत रूप एवं नित्य है तो फिर इस संसार का त्याग कर दे। तेरा इससे कोई प्रयोजन अब नहीं रहा तथा तूने इसका त्याग किया है इस भावना को भी छोड़ दे क्योंकि त्याग की भावना से अहंकार पैदा होता है जो विष के समान है। इसलिए त्याग और अत्याग की भावना का भी त्याग कर दे। यही तेरी परम स्थिति है।

॥ तीसरा अध्याय समाप्त॥

चौथा अध्याय

अवधूत उवाच

नावाहनं नैव विसर्जनं वा,
पुष्पाणि पत्राणि कथं भवन्ति।
ध्यानानि मंत्राणि कथं भवन्ति,
समासमं चैव शिवार्चनं च॥१॥

अनुवाद—*सर्व व्यापक चेतन आत्मा का न आवाहन है, न विसर्जन, इस पर पुष्प एवं पत्र भी कैसे समर्पित हो सकते हैं, इसके लिए ध्यान और मन्त्र भी किस प्रकार हो सकता है। सर्वत्र समान दृष्टि रखना ही इस शिव रूप चेतन आत्मा का पूजन है।*

व्याख्या—भक्त लोग देवताओं का पूजन करते हैं, पुष्प-पत्र चढ़ाते हैं, उनका आवाहन करते हैं, पूजन समाप्ति पर फिर विसर्जन करते हैं, मन्त्र जाप करते हैं, उनका ध्यान करते हैं। यह सब साकार की ही उपासना तथा इनको स्वयं से भिन्न एवं उच्च मानकर करते हैं जिससे इनका कृपा प्रसाद मिलता रहे किन्तु दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मा साकार नहीं निराकार है तथा सर्वव्याप्त है, सभी कुछ आत्मा (ब्रह्म) ही है, उससे भिन्न इस सृष्टि में कुछ है ही नहीं। पूजन करने वाला भी शरीर नहीं, आत्मा ही है फिर इस अद्वैत में इस प्रकार पूजन कैसे हो सकता है। जो ज्ञानी नहीं हैं, जिन्हें आत्मबोध नहीं हुआ है वे ही अपने को आत्मा से भिन्न मानकर ये क्रियाएँ करते हैं। ज्ञानी इन सबसे मुक्त हो जाता है। ज्ञानी के अनुसार सर्वत्र समदृष्टि रखना,

सर्वत्र आत्मा के ही दर्शन करना ही उसका श्रेष्ठ पूजन है। अन्य कोई नहीं।

न केवलं बन्धविबन्ध मुक्तो,
न केवलं शुद्ध विशुद्ध मुक्तः।
न केवलं योगवियोग मुक्तः,
स वै विमुक्तो गगनोपमोऽहम्॥२॥

अनुवाद— मैं केवल बन्ध और विबन्ध से ही युक्त नहीं हूँ, न शुद्ध विशुद्ध से ही मुक्त हूँ, न योग और वियोग से ही मुक्त हूँ बल्कि मैं आकाश तुल्य होने से मैं मुक्त ही हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं सर्वव्यापक आकाश तुल्य एव मात्र आत्मा हूँ, मेरे किसी प्रकार के बन्धन, अशुद्धि, योग आदि रहा ही नहीं फिर विमुक्ति, शुद्धता तथा वियोग कैसे हो सकता है। मैं दोनों ही प्रकार से मुक्त ही हूँ। बन्धन, अशुद्धि योग होने पर ही मुक्ति, शुद्धता एवं वियोग होता है अन्यथा नहीं।

संजायते सर्वमिदं हि तथ्यं,
संजायते सर्वमिदं वितथ्यम्।
एवं विकल्पो मम नैव जातः,
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥३॥

अनुवाद— यह सम्पूर्ण जगत सत्य ही उत्पन्न होता है अथवा मिथ्या ही उत्पन्न होता है इस प्रकार का विकल्प मेरे में कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। मैं स्वरूप से ही मुक्त हूँ तथा जन्म मरण के रोग से भी मुक्त हूँ।

व्याख्या—कुछ शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्म सत्य है इसलिए उससे उत्पन्न यह जगत भी सत्य है क्योंकि सत्य से असत्य का निर्माण नहीं हो सकता। वेदान्त कहता है केवल ब्रह्म ही सत्य है एवं यह जगत मिथ्या

है, भ्रान्ति मात्र है। किन्तु दत्तात्रेय जी कहते हैं कि इस प्रकार का विकल्प मेरे में कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ कि यह जगत सत्य है अथवा मिथ्या है क्योंकि मैं आत्म स्वरूप होने से सदा मुक्त एवं जन्म मृत्यु से रहित हूँ। ये सारे विकल्प मन के हैं। आत्मा में कोई विकल्प है ही नहीं। मैं आत्मा होने से विकल्प रहित हूँ।

न सांजनं चैव निरंजनं वा,
न चान्तरं वापि निरंतरं वा।
अन्तर्विभिन्नं न हि मे विभाति,
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥४॥

अनुवाद— *मैं न तो दोष युक्त हूँ न दोष रहित हूँ, मैं व्यवधान सहित एवं व्यवधान रहित भी नहीं हूँ। मेरे में व्यवधान और भेद भी ज्ञात नहीं होते। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित आकाश तुल्य हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा होने से स्वरूप से ही मुक्त हूँ। मेरा जन्म एवं मृत्यु नहीं है इसलिए मैं इस प्रकृति रूपी मायामल के दोष से युक्त नहीं हूँ तथा इससे रहित भी नहीं हूँ क्योंकि यह माया (प्रकृति) भी मेरी ही शक्ति है। मैं किसी प्रकार के व्यवधान से रहित हूँ तथा इसके सहित भी नहीं हूँ क्योंकि व्यवधान और भेद सर्व व्यापक ब्रह्म में नहीं होता।

अबोध बोधो मम नैव जातो,
बोधस्वरूपं मन नैव जातम्।
निर्बोध बोधं च कथं वदामि,
स्वरूपनिर्वाणमनामनोऽहम् ॥५॥

अनुवाद— *अबोध (अज्ञान) का बोध (ज्ञान) भी मेरे में नहीं हुआ है, मैं बोध स्वरूप (ज्ञान स्वरूप) हूँ ऐसा ज्ञान भी मुझे नहीं*

हुआ है। फिर मैं अपने को निर्बोध (अज्ञानी) अथवा बोध वाला (ज्ञानी) किस प्रकार कहूँ। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा हूँ जिससे मैं सर्वदा ही मुक्त एवं रोग मुक्त हूँ इसलिए मैं अज्ञानी हूँ इसका ज्ञान भी मुझे नहीं है तथा मैं बोध स्वरूप अर्थात ज्ञान स्वरूप ही हूँ ऐसा भी मैं नहीं जानता हूँ क्योंकि अज्ञान होने पर ही ज्ञान की बात कही जाती है। अज्ञान और ज्ञान सापेक्ष है इसलिए मैं अपने को निर्बोध (अज्ञानी) अथवा बोध वाला (ज्ञानी) किस प्रकार कह सकता हूँ। ये दोनों भाव मन में ही पैदा होते हैं। आत्मा में इस प्रकार के भाव उत्पन्न ही नहीं होते फिर ज्ञानी एवं अज्ञानी की बात कहना भी असम्भव है।

न धर्मयुक्तो न च पापयुक्तः,
न बन्धयुक्तो न च मोक्षयुक्तः।
युक्तं त्वयुक्तं न च मे विभाति,
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥६॥

अनुवाद— *मैं न धर्म से युक्त हूँ, न पाप से युक्त हूँ, न बन्ध से युक्त हूँ और न मोक्ष से ही युक्त हूँ। युक्त और अयुक्त का भान भी मेरे में नहीं होता है। मैं स्वरूप से ही मोक्ष युक्त एवं रोग रहित हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी इसी क्रम में कहते हैं कि धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य, बन्ध और मोक्ष आदि की कल्पना मन की है तथा उसी के धर्म हैं। आत्मा सर्व शुद्ध है जो इनसे परे है इसलिए उसके लिए इन शब्दों का व्यवहार ही नहीं हो सकता इसलिए इसके लिए युक्त एवं अयुक्त की बात भी नहीं कही जा सकती। वह स्वरूप से ही मोक्ष युक्त एवं रोग रहित है। उसके लिए इन शब्दों का प्रयोग नहीं होता।

परापरं वा न च मे कदाचित्,
मध्यस्थभावो हि न चारीत्रम्।
हिताहितं चापि कथं वदामि,
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥७॥

अनुवाद— मेरे में पर एवं अपर भाव भी नहीं है, न मध्यस्थ भाव ही है, शत्रु और मित्र भाव भी मेरे में नहीं हैं, फिर मैं हित और अहित किस प्रकार कहूँ। मैं स्वरूप से ही मोक्ष स्वरूप एवं रोग रहित हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि शास्त्रों में परब्रह्म, अपर ब्रह्म, पराविद्या, अपराविद्या, पराप्रकृति, अपराप्रकृति आदि की बात कही जाती है किन्तु मैं एक ही आत्म स्वरूप हूँ इसमें पर एवं अपर तथा मध्यस्थ जैसी कोई बात है ही नहीं। शत्रु एवं मित्र भाव भी दो होने पर ही होते हैं, एक में शत्रु मित्र भाव कैसे हो सकता है इसलिए हित अहित का कथन भी कैसे हो सकता है। ये सब द्वैत भावना में ही सम्भव है। अद्वैत में इनका कथन ही व्यर्थ हो जाता है। मैं चूँकि मोक्ष स्वरूप एक मात्र चेतन आत्मा हूँ जो रोग रहित है इसलिए मेरे लिए यह कथन नहीं हो सकता।

नोपासको नैवमुपास्यरूपं,
न चोपदेशो न च मे क्रिया च।
संवित्स्वरूपं च कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥८॥

अनुवाद— न तो मैं उपासक हूँ, न ही उपास्य रूप हूँ, न मेरा उपदेश है और न मेरे में क्रिया ही है फिर मैं अपने को ज्ञान स्वरूप भी किस प्रकार कहूँ। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि उपासक और उपास्य भिन्न

होने पर ही उपासना होती है तथा उपदेश भी भिन्न होने पर ही सम्भव है, क्रिया में कर्त्ता होना भी आवश्यक है, अपने को ज्ञान स्वरूप कहने वाला भी उससे भिन्न ही होता है किन्तु मैं तो एक ही हूँ इसलिए उपासक, उपास्य, उपदेश, क्रिया आदि का भेद नहीं हो सकता। जब कहने वाला ही नहीं है तो मैं ज्ञान स्वरूप हूँ ऐसा भी कौन कहे। अर्थात् अद्वैत की अनुभूति में ये सब कथन व्यर्थ हो जाते हैं।

नो व्यापकं व्याप्यमिहास्तिकिंचित्,
न चात्वयंवापि निरालयं वा।
अशून्यशून्यं च कथं वदामि,
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥९॥

अनुवाद— इस आत्मा (ब्रह्म) में व्यापक व्याप्य भाव किंचित भी नहीं है, न आश्रय एवं निराश्रय भाव ही है। मैं इसे शून्य तथा अशून्य भी किस प्रकार कहूँ। यह स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित है। वही मैं हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मा एक ही है इसलिए व्याप्य एवं व्यापक, आश्रय एवं निराश्रय तथा शून्य और अशून्य भाव ही इसमें नहीं है फिर इनका कथन किस प्रकार किया जाए। एक ही में दो की कल्पना कैसे सम्भव है। मैं स्वरूप से ही मुक्त व रोग रहित हूँ।

न ग्राहको ग्राह्यकमेव किंचित्,
कारणं वा मम नैव कार्यम्।
अचिन्त्यचिन्त्यं च कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम् ॥१०॥

अनुवाद— आत्मा में ग्राहक (ग्रहण करने वाला) एवं ग्राह्य (जिसे ग्रहण किया जाता है) का थोड़ा सा भी भेद नहीं है, मैं आत्मा

होने से मेरा कारण एवं कार्य भी नहीं है। इस अचिन्त्य आत्मा का मन से चिन्तन भी नहीं किया जा सकता उसका मैं कथन कैसे करूँ। मैं स्वरूप से ही मुक्त और रोग से रहित हूँ।

व्याख्या—आत्मा चूँकि एक है, उसमें कहीं भी द्वैत भावना नहीं है इसलिए उसमें ग्राहक एवं ग्राह्य, कारण और कार्य का भेद नहीं है। फिर निराकार होने से उसका मन एवं वाणी से चिन्तन नहीं किया जा सकता फिर उसका कथन कैसे सम्भव है। उसका किसी प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता। मैं ऐसा ही आत्म स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

न भेदकं वापि न चैव भेद्यं,
न वेदकं वा मम नैव वैधम्।
गतागतं तात कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥११॥

अनुवाद— *न तो कोई भेद करने वाला है और न भेद करने योग्य ही है, न कोई जानने वाला है, न मेरे में कोई जानने योग्य ही है। हे तात! न कोई व्यतीत हुआ है, न आने वाला है फिर उसका कथन कैसे करूँ। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे तात! यह आत्मा भेद रहित है। इसमें किसी प्रकार भेद नहीं है इसलिए इसमें न भेद किया जा सकता है, न कोई दूसरा भेद करने वाला ही है। इसे जानने वाला भी कोई नहीं है, न किसी प्रकार से इसे जाना ही जा सकता है क्योंकि जानने वाला भी इससे भिन्न नहीं है। यह सर्वकाल में है इसलिए भूत एवं भविष्य का भी इसमें भेद नहीं किया जा सकता। ऐसी आत्मा का किसी प्रकार कथन सम्भव ही नहीं है। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित वही आत्मा हूँ।

न चास्ति देहो न च मे विदेहो,
बुद्धिर्मनो मे न हि चेन्द्रियाणि।
रागो विरागश्च कथं वदामि,
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥१२॥

अनुवाद— मेरा शरीर भी नहीं है, न मैं देह रहित ही हूँ, मेरी बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ भी नहीं हैं इसलिए मैं राग और विराग का किस प्रकार कथन करूँ। मैं मुक्तरूप रोग रहित हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मा देह रहित है, उसका कोई शरीर नहीं है किन्तु यह समस्त जगत ही उसका शरीर है इसलिए उसे देह रहित (विदेह) भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा, बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों से परे हैं। राग एवं विराग मन के धर्म हैं आत्मा के नहीं इसलिए इनका कथन भी सम्भव नहीं है। मैं वही आत्मा हूँ एवं रोग रहित हूँ।

उल्लेखमात्रं न हि भिन्नमुच्चै-
रुल्लेख मात्रं न तिरोहितं यै।
समास संमित्रं कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥१३॥

अनुवाद— वह (आत्मा) थोड़ा सा भी (ब्रह्म से) भिन्न नहीं है वह उच्च प्रकार के लेखन में भी नहीं है, उससे भी वह छिपा हुआ है। हे मित्र! उसे मैं सम अथवा असम किस प्रकार कहूँ। मैं आत्म रूप युक्त एवं रोग रहित हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह आत्मा उस ब्रह्म से थोड़ा सा भी भिन्न नहीं है। ब्रह्म के विषय में जितने उच्च प्रकार के लेखन वेद आदि हैं उसमें भी उसका पूर्ण विवरण समाहित नहीं हो सकता। उसमें भी उसका सार तत्व तिरोहित है, वह प्रकट नहीं हो सका है। इसलिए उसको सम एवं विषम नहीं कहा जा सकता क्योंकि कहने वाला दूसरा

कोई है ही नहीं। मैं ऐसा ही आत्मा हूँ जो मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

जितेन्द्रियोऽहम् त्वजितेन्द्रियो वा,
न संयमो मे नियमो न जातः।
जयाजयौ मित्र कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥१४॥

अनुवाद— मैं जितेन्द्रिय भी नहीं हूँ, न अजितेन्द्रिय ही हूँ, मेरे में संयम नियम भी उत्पन्न नहीं हुए हैं। हे मित्र! मैं जय और अजय का किस प्रकार कथन करूँ। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जब मैं इन्द्रियों से ही रहित केवल चेतन आत्मा हूँ तो मैं अपने को जितेन्द्रिय अथवा अजितेन्द्रिय कैसे कह सकता हूँ। संयम नियम मन के ही होते हैं। मैं चेतन होने से संयम नियम भी मेरे नहीं हैं इसलिए हे मित्र! जय और पराजय भी मन एवं अहंकार के कारण ज्ञात होते हैं। आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं आत्मा होने से स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

अमूर्तमूर्तिर्न न मे कदाचित्,
आद्यन्तमध्यं न च मे कदाचित्।
बलाबलं मित्र कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥१५॥

अनुवाद— मैं न कभी मूर्त हूँ, न अमूर्त ही हूँ, मेरा आदि, मध्य और अन्त भी नहीं है। हे मित्र! मैं बलशाली हूँ अथवा निर्बल हूँ इसका भी किस प्रकार कथन करूँ। मैं तो एक ही स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा होने से निराकार हूँ इसलिए अमूर्त हूँ किन्तु यह सम्पूर्ण जगत ही मेरा मूर्त रूप है इसलिए

मैं अपने को मूर्त, अमूर्त नहीं कह सकता। मेरा न आदि है, न मध्य है, न अन्त ही है। कोई इसका पार नहीं पा सका है। आत्मा न होता है, न मरता ही है। आदि एवं अन्त के अभाव में इसे मध्य भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा को बलशाली एवं बलहीन भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह बल अर्थात शक्ति से भी अभिन्न है। मैं ऐसा ही आत्म स्वरूप हूँ जो मुक्त एवं रोग रहित है।

मृतामृतं वापि विषाविषं च,
संजायते तात न मे कदाचित्।
अशुद्धं शुद्धं च कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥१६॥

अनुवाद— *मेरा न मरना है, न जीना ही है, मैं विष और अमृत भी नहीं हूँ न मेरे से ये कभी उत्पन्न ही हुए हैं। हे तात! मैं अपने को शुद्ध एवं अशुद्ध भी किस प्रकार कहूँ। मैं मोक्ष स्वरूप एवं रोग रहित हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह मरना जीना शरीर का होता है, आत्मा इन दोनों से रहित अजन्मा एवं अमृत है। वह सदा से है व सदा ही रहेगा। यह न विष स्वरूप है, न अमृत स्वरूप, यह सभी से परे केवल चेतन मात्र है। इसलिए इसे शुद्ध एवं अशुद्ध भी मैं किस प्रकार कहूँ। मैं आत्मा होने से मुक्त स्वरूप एवं रोग रहित हूँ।

स्वप्नः प्रबोधो न च योगमुद्रा,
नक्तं दिवा वापि न मे कदाचित्।
अतुर्यतुर्यं च कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥१७॥

अनुवाद— *मेरे में न स्वप्न है न जाग्रत अवस्था है, योग मुद्रा भी नहीं है। मेरे में रात्रि और दिन भी नहीं है फिर मैं तुरीयावस्था अथवा अतुरीया अवस्था का किस प्रकार कथन करूँ। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मेरे में स्वप्न, जाग्रति, तुरीय अथवा अतुरीया अवस्था नहीं है। ये अवस्थाएँ मन की हैं आत्मा में नहीं है, मेरे में योग मुद्रा भी नहीं है यह भी मन की ही शान्त अवस्था है, आत्मा की नहीं है। दिन और रात्रि का भेद भी मेरे में नहीं है। मैं केवल चेतन आत्मा हूँ जो स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित है।

संविद्धि मां सर्वविसर्व मुक्तं,
माया विमाया न च मे कदाचित्।
संध्यादिकं कर्म कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामनोऽहम्॥१८॥

अनुवाद— *मैं सर्व एवं सर्वरहित से मुक्त हूँ ऐसा तू जान। मेरे में माया एवं विमाया भी नहीं है। फिर मैं संध्या आदि कर्मों का किस प्रकार कथन करूँ। मैं मुक्त स्वरूप एवं रोग रहित हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं न तो सर्वरूप हूँ अर्थात यह सब मैं ही हूँ ऐसा नहीं है, न असर्व रूप हूँ अर्थात मैं कुछ नहीं हूँ ऐसा भी नहीं है क्योंकि मैं ही सर्व रूप हूँ किन्तु इन दोनों से मुक्त भी हूँ। माया और विमाया का भेद भी मेरे में नहीं है। ये भेद मन द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। एक ही तत्व में माया विमाया दो भेद कैसे हो सकते हैं। ये सन्ध्या, वन्दन, पूजा, पाठ, प्रार्थना, अर्चना आदि भी मेरे कर्म नहीं हैं फिर मैं किस प्रकार इनका कथन करूँ। मैं इन सबसे रहित केवल आत्मतत्व चेतन हूँ। मैं स्वरूप से मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

संविद्धि मां सर्वसमाधि युक्तं,
संविद्धि मां लक्ष्यविलक्ष्यमुक्तम्।
योगं वियोगं च कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥१९॥

अनुवाद— *तू मुझे सर्व समाधि से युक्त जान, मैं लक्ष्य एवं*

लक्ष्य रहित से मुक्त हूँ ऐसा तू जान। मैं योग और वियोग को किस प्रकार कहूँ मैं स्वरूप से मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा होने से सभी प्रकार की समाधियों से युक्त पूर्ण समाधि हूँ। मेरे लिए समाधि का कोई अर्थ ही नहीं है। मेरा कोई लक्ष्य नहीं है जिसके लिए मैं चेष्टा करूँ, न लक्ष्य रहित ही हूँ क्योंकि लक्ष्य होने पर ही लक्ष्य रहित कहा जा सकता है। मैं दोनों से ही मुक्त हूँ ऐसा तू जान। जब मैं पूर्ण समाधि हूँ तो योग और वियोग की बात भी कैसे कही जा सकती है। मैं एक ही मुक्त स्वरूप एवं रोग रहित हूँ। योग और वियोग दो होने पर ही सम्भव है। एक ही तत्व होने पर न योग सम्भव है, न वियोग।

मूर्खोऽपि नाहं न च पंडितोऽहं,
मौनं विमौनं न च मे कदाचित्।
तर्कं वितर्कञ्च कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥२०॥

अनुवाद— *मैं मूर्ख नहीं हूँ, न पण्डित ही हूँ, मौन एवं बोलना भी मेरे में नहीं है। मैं तर्क और वितर्क का भी किस प्रकार कथन करूँ। मैं मोक्ष स्वरूप रोग रहित हूँ।*

व्याख्या—आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप है उसमें मूर्खता एवं पांडित्य जैसी कोई वस्तु नहीं है, मौन एवं बोलना भी उसमें नहीं होता, तर्क और वितर्क भी आत्मा में नहीं है। ये सब मन एवं बुद्धि के विषय हैं, आत्मा के नहीं। इसलिए दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा होने से ये सब मेरे विषय नहीं हैं। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

पिता च माता च कुलं न जाति,
जन्मादि मृत्युर्न च मे कदाचित्।
स्नहें विमोहं च कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥२१॥

अनुवाद— मेरे पिता, माता, कुल और जाति नहीं है, मेरे जन्म और मृत्यु आदि भी नहीं है। मैं स्नेह और विमोह का किस प्रकार कथन करूँ। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

व्याख्या—आत्मा का न जन्म होता है न मृत्यु। वह शाश्वत एवं नित्य तथा एक ही है। उसके न कोई पिता है, न माता, न कुल है, न जाति। वही एक तत्व सम्पूर्ण सृष्टि में एक ही रूप में व्याप्त है। दूसरा कोई है ही नहीं इसलिए उसमें स्नेह एवं विमोह का कथन भी नहीं हो सकता। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं वही आत्मा हूँ जो मोक्ष स्वरूप एवं रोग रहित हूँ।

अस्तं गतो नैव सदोदितोऽहं,
तेजो वितेजो न च मे कदाचित्।
सन्ध्यादिकं कर्म कथं वदामि,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥२२॥

अनुवाद— मैं कभी अस्त नहीं होता (लय को प्राप्त नहीं होता)। मैं सर्वकाल में उदित ही हूँ। मेरे में तेज और वितेज भी नहीं है फिर सन्ध्यादि कर्म का मैं किस प्रकार कथन करूँ। मैं स्वरूप से मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

व्याख्या—आत्मा कभी अस्त नहीं होती, प्रलय काल में उसका किसी में लय नहीं होता। शरीर, मन, बुद्धि, अन्तःकरण प्रकृति आदि सबका लय आत्मा में ही होता है किन्तु आत्मा सर्वव्यापी है, उसका किसमें लय हो। वह सदा ही उदित रहता है आत्म में तेज और वितेज भी नहीं होता। सभी तेज उसी का प्रकट रूप है। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं वही आत्मा हूँ इसलिए संन्ध्यादि कर्मों का कथन भी मैं कैसे करूँ। ये शरीर एवं इन्द्रियों के कर्म हैं। आत्मा के कर्म नहीं हैं इसलिए ये मेरे कर्म ही नहीं हैं। मैं मोक्ष स्वरूप एवं रोग रहित हूँ।

असंशयं विद्धि निराकुलं
मामसंशयं विद्धि निरन्तरम् माम्।
असंशयं विद्धि निरंजनं मां
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥२३॥

अनुवाद— *मुझे संशय रहित तथा मूल कारण से रहित तू जान, मुझे संशय से रहित नित्य तू जान, मुझे संशय से रहित निर्दोष तू जान। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं आत्मा हूँ जिससे मैं संशय रहित हूँ। संशय मन का धर्म है आत्मा का धर्म नहीं है। फिर मेरा कोई कुल भी नहीं है, न मेरा कोई मूल कारण है जिससे मैं उत्पन्न हुआ हूँ, न मेरे से कोई उत्पन्न ही हुआ है क्योंकि मेरे से भिन्न कुछ है ही नहीं। मैं नित्य हूँ तथा निर्दोष हूँ। ये माया रूपी दोष मेरे में नहीं हैं। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।

ध्यानानि सर्वाणि परित्यजन्ति,
शुभाशुभं कर्म परित्यजन्ति।
त्यागामृतं तात पिबन्ति धीराः,
स्वरूप निर्वाणमनामयोऽहम्॥२४॥

अनुवाद— *धीर पुरुष सम्पूर्ण ध्यानों का परित्याग कर देते हैं, शुभ एवं अशुभ सभी प्रकार के कर्मों का त्याग कर देते हैं। वे केवल त्याग रूपी अमृत का ही पान करते हैं। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ।*

व्याख्या—धीर पुरुष अर्थात आत्मज्ञानी पुरुष जो जीवनमुक्त हो चुके हैं जिन्हें ब्रह्मानन्द का अनुभव हो गया है, जिनके सभी कर्मों का क्षय हो चुका है, जो सांसारिक सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं, जो राग-द्वेषादि विकारों से रहित हो चुके हैं, जो माया मोह से मुक्त

हो चुके हैं जिनको यह सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म ही ज्ञात होने लगती है, जो सभी प्रकार के भेदों से रहित हो गये हैं जिनके लिए सभी प्रकार की साधनाएँ व्यर्थ हो चुकी हैं ऐसे धीर ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण ध्यानों का परित्याग कर देते हैं। फिर ध्यान की आवश्यकता ही नहीं रहती क्योंकि जिसे पाना था वह मिल गया। वे शुभाशुभ कर्मों का भी परित्याग कर देते हैं क्योंकि अब उनका कोई अर्थ ही नहीं रहा। केवल स्वाभाविक कर्म ही करते हैं। वे केवल त्याग रूपी अमृत का ही पान करते हैं। त्याग का सुख ही सर्वोत्तम सुख है। सांसारिक व्यक्ति भोग में ही रस लेते हैं जिससे वे त्याग का महत्व नहीं समझ सकते। बिना सांसारिक भोगों के त्याग के ब्रह्मानन्द का अनुभव नहीं होता तथा इस अनुभव के बाद अपने आप सर्वत्याग घटित हो जाता है। छोड़ना नहीं पड़ता। ज्ञानी व्यक्ति इसी त्याग रूपी अमृत का पान करते हैं। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के बाद मैं इसी का पान कर रहा हूँ। मैं स्वयं मोक्ष स्वरूप रोग रहित आत्मा हूँ।

विन्दति विन्दति नहिं नहिं यत्र,
छन्दो लक्षणं नहि नहि तत्र।
समरस मग्नो भावित पूतः,
प्रलयति तत्त्वं परमवधूतः ॥ २५ ॥

अनुवाद— *परम अवधूत (श्रेष्ठ संन्यासी) एकरस आत्मा में ही मग्न रहता है तथा पवित्र हुआ आत्म तत्व का ही कथन करता है। जिस चेतन ब्रह्म में छन्द और लक्षण नहीं है उसमें प्राप्त होता है।*

व्याख्या—परम अवधूत अर्थात श्रेष्ठ ज्ञानी जिसको ब्रह्मानन्द की अनुभूति हो गई है वह नित्य ब्रह्मानन्द में ही लीन रहता है तथा उसी का कथन करता है। ब्रह्म प्राप्ति के बाद वह छन्द एवं लक्षण में नहीं रमता। वह ब्रह्मरूपी अपने ही छन्द एवं लक्षण में रमता है।

॥ चौथा अध्याय समाप्त ॥

पाँचवाँ अध्याय

अवधूत उवाच

ओमिति गदितं गगनसमं
तन्न परापरसारविचार इति।
अविलासविलासनिराकरणं
कथमक्षर बिन्दुसमुच्चरणम्॥१॥

अनुवाद— 'ॐ' इस प्रकार जो उच्चारण किया जाता है वह आकाश तुल्य (व्यापक) है। वह पर और अपर (ब्रह्म) के सार का विचार नहीं है। उसमें जगत के विलास एवं अविलास का अभाव है। फिर अक्षर एवं बिन्दु रूप 'ॐ' शब्द का उच्चारण किस प्रकार हो सकता है।

व्याख्या—ॐ एक ध्वनि है। यह अक्षर एवं बिन्दु युक्त शब्द मात्र नहीं है। यह ध्वनि सृष्टि के आरम्भ में थी जो आकाश के तुल्य व्यापक है। इस ध्वनि में जगत का विलास एवं अविलास नहीं था। जगत की उत्पत्ति से पूर्व यही एकमात्र ध्वनि थी। इसी से जगत की रचना हुई तथा जगत के निराकरण अथवा समाप्ति के बाद पुनः यही ध्वनि शेष रहेगी। इसलिए यह ध्वनि ही ब्रह्म है जो सर्वव्यापक है। इसलिए इसे 'नाद ब्रह्म' कहा जाता है। इस ध्वनि में परब्रह्म एवं अपर ब्रह्म जैसे सार का विचार भी नहीं है क्योंकि यही सर्वव्याप्त है। इसमें पर-अपर का कोई भेद नहीं है। इससे भी सिद्ध होता है कि यह सृष्टि अद्वैत है। दो या भेद किसी प्रकार नहीं है। यह ओंकार एक ध्वनि है जो

सृष्टि के आरम्भ में सर्वव्याप्त थी। अक्षर एवं बिन्दु रूप 'ॐ' अक्षर से इसका तात्पर्य नहीं है तथा अक्षर रूप में इसका उच्चारण नहीं हो सकता। भाव यह है कि ओंकार एक ध्वनि है, शब्द नहीं है जिसका उच्चारण किया जा सके।

इति तत्त्वमसिप्रभृति श्रुतिभिः,
प्रतिपादितमात्मनि तत्त्वमसि।
त्वमुपाधिविर्जित सर्वसमं,
किमु रोदिषिं मानस सर्वसमम्॥२॥

अनुवाद— *इस प्रकार श्रुतियों ने जिस आत्मा को 'तत्वमसि' (यह तू ही है) कहकर प्रतिपादित किया है वह आत्मा तू ही है। इसलिए तू उपाधि से रहित सर्वत्र समरूप है। हे मन! तू सर्व में समान रूप है फिर किस वास्ते रूदन करता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने ही को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मन! श्रुतियों में बार-बार 'तत्वमसि' कहकर जिस आत्मा को ब्रह्म स्वरूप ही प्रतिपादित किया है तू वही आत्मा होने से ब्रह्म ही है इसमें कोई संशय ही नहीं है। तू आत्मा (ब्रह्म) होने से सभी प्रकार की उपाधियों से रहित है तथा सर्वत्र ही समान रूप से तू ही व्याप्त है। फिर किसलिए तू रूदन करता है।

अधऊर्ध्वविवर्जितसर्वसमं,
बहिरन्तरवर्जितसर्वसम्।
यदि चैकविवर्जितसर्वसमं,
किमुरोदिषि मानस सर्वसमम्॥३॥

अनुवाद— *हे मन! तू ऊपर और नीचे से रहित सब में सम है, बाहर और भीतर से रहित सबमें सम है और यदि एक से रहित सब में सम है तो तू किस वास्ते रूदन करता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने ही मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मन! तू ऊपर, नीचे, भीतर एवं बाहर से रहित है तथा सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है क्योंकि तू आत्मा है जो ब्रह्म ही है। तू अद्वैत रूप है इसलिए तेरे में एकत्व भाव भी नहीं है बल्कि तू ही सब है फिर किस कारण से तू रूदन करता है। रूदन किसी दूसरे के लिए ही किया जाता है। एक ही होने पर रूदन नहीं हो सकता।

न हि कल्पितकल्पविचार इति,
न हि कारणकार्य विचार इति।
पदसंधिविवर्जितसर्वसमं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥४॥

अनुवाद— *हे मन! तू न तो कल्पित है, न कल्प आदि विचार ही है, न तू कारण एवं कार्यरूपी विचार ही है। तेरे में पद एवं सन्धि भी नहीं है बल्कि सबमें सम ही है। फिर किस वास्ते रूदन करता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने मन को ही सम्बोधित करके कह रहे हैं कि हे मन! न तो तू कल्पना मात्र है न किसी अन्य वस्तु में तेरी कल्पना ही की गई है, कार्य एवं कारण रूपी विचार भी तू नहीं है कि ब्रह्म कारण है व तू उसका कार्य है, तू ब्रह्म से भिन्न है ऐसा भी नहीं है बल्कि तू स्वयं ब्रह्म (आत्मा) ही है जो एक ही है तथा सर्वत्र समान है। पद एवं सन्धि भी तू नहीं है कि तेरा विच्छेद किया जा सके, दो में विभक्त किया जा सके क्योंकि तू ही सर्वत्र अद्वैत रूप है फिर किस कारण से रूदन करता है। तेरे से भिन्न कुछ है ही नहीं।

नहि बोधविबोधसमाधिरिति,
नहि देशविदेशसमाधिरिति।
नहि कालविकाल समाधिरिति,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥५॥

अनुवाद— हे मन! तू ज्ञान एवं अज्ञान रूपी समाधि नहीं है, न देश, विदेश एवं काल विकाल रूपी समाधि ही है। तू सर्वत्र समरूप है फिर किस वास्ते रूदन करता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने मन को ही सम्बोधित करके कह रहे हैं कि हे मन! तू आत्म रूप है, जिससे तू ज्ञान एवं अज्ञान देश और देश रहित (सविकल्प एवं निर्विकल्प) तथा काल विकाल रूपी (अवधि एवं बिना अवधि वाली) समाधि से सर्वथा मुक्त है। समाधि चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिए ही लगाई है किन्तु तू चित्त (मन) नहीं है इसलिए तू समाधि का व्यवहार क्यों करता है। तू सर्वत्र समरूप है फिर क्यों रूदन करता है।

नदि कुम्भनभो न हि कुम्भ इति,
नहि जीव वपुर्न हि जीव इति।
नहि कारणकार्यविभाग इति,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥६॥

अनुवाद— हे मन! न तो तू घटाकाश है न घट ही है, न तू जीव का शरीर है न जीव ही है, तेरे में कारण एवं कार्य का विभाग भी नहीं है फिर तू किस वास्ते रूदन करता है। तू सर्वत्र सम रूप है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे मन! तू एक ही सर्वत्र समरूप से व्याप्त आत्मा है। तेरे में महाकाश एवं घटाकाश जैसा भेद ही नहीं है क्योंकि तू घट नहीं है, न तू उस आत्मा से भिन्न कोई जीव ही है इसलिए यह जीवरूपी शरीर भी तू नहीं है, तू कारण एवं कार्य से रहित है, इनका विभाग भी तेरे में नहीं है कि आत्मा भिन्न है जो कारण है एवं जीव उसका कार्य है ऐसा भी नहीं है। फिर तू किस कारण से रूदन करता है। तू एक ही सर्वव्यापी आत्मा है।

इह सर्वनिरन्तरमोक्ष पदं,
लघुदीर्घविचारविहीन इति।
न ही वर्तुलकोणविभाग इति,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥७॥

अनुवाद— *यह आत्मा सर्व, एकरस एवं मोक्ष पद वाला है। यह लघु, दीर्घ आदि विचार से रहित है। इसमें गोल एवं कोण का विभाग भी नहीं है। फिर हे मन तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्वत्र समरूप है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे मन! तू सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है फिर किस वास्ते रूदन करता है। तू आत्मा से भिन्न नहीं बल्कि आत्मा ही है जो सर्व, एकरस एवं मोक्ष पद वाला है। इसमें छोटे-बड़े का कोई विचार ही नहीं है। छोटे-बड़े का विचार दो में होता है। एक में इसका विचार कैसे हो सकता है। इसमें गोल एवं त्रिकोण जैसा विभाग भी नहीं है। फिर तेरे लिए रूदन करने का कोई कारण ही नहीं है। तेरे सिवा दूसरा कोई है ही नहीं तो फिर यह रूदन किसके लिए है।

इह शून्यविशून्य विहीन इति,
इह शुद्ध विशुद्ध विहीन इति।
इह सर्व विसर्व विहीन इति,
किमुरोदिषि मानस सर्वसमम्॥८॥

अनुवाद— *इस (आत्मा) में शून्य एवं विशून्य विहीन, शुद्ध एवं विशुद्ध विहीन, सर्व एवं विसर्व विहीन आदि का व्यवहार नहीं होता है। हे मन! तू सर्व में सम है फिर किस वास्ते रूदन करता है।*

व्याख्या—यह आत्मा न तो शून्य रूप है, न अशून्य विहीन ही है, क्योंकि शून्य की कोई सत्ता नहीं होती। सृष्टि का निर्माण शून्य से नहीं हो सकता इसलिए इसे शून्य विहीन भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह जगत उसी का रूप है। इसी प्रकार इसे शुद्ध एवं विशुद्ध विहीन भी

नहीं कहा जा सकता, न इसे सर्व ही कहा जा सकता है, न विसर्व विहीन ही कहा जा सकता है। ये सारे भेद दो होने पर ही हो सकते हैं जबकि आत्मा एकरस, सर्वरस एवं समरूप में व्याप्त है इसलिए हे मन! तू आत्मा से किसी प्रकार भिन्न नहीं है फिर किस कारण से रूदन करता है, तेरा रूदन व्यर्थ है।

नहि भिन्नविभिन्नविचार इति,
बहिरन्तरसन्धि विचार इति।
अरिमित्र विवर्जित सर्वसमं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥९॥

अनुवाद— *इस (आत्मा) में भिन्न एवं विभिन्न का विचार भी नहीं हो सकता, बाहर, भीतर और सन्धि का विचार भी इसमें नहीं हो सकता। शुद्ध एवं मित्र से रहित यह सर्व में सम है। फिर हे मन! तू किस वास्ते रूदन करता है। तू सर्व में सम है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे मन! इस आत्मा में भिन्न एवं विभिन्न का विचार नहीं किया जा सकता, न इसमें बाहर, भीतर एवं इनके मध्य की सन्धि का ही किया जा सकता है क्योंकि उसमें द्वैत भाव ही नहीं है। यह शत्रु एवं मित्र भाव से भी रहित है, सर्व में सम है। इसलिए तू किस वास्ते रूदन करता है। तू वही आत्मा हैं जो सर्व में सम है।

नहि शिष्य विशिष्य सरूप इति,
न चराचर भेद विचार इति।
इह सर्वनिरन्तर मोक्षपदं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥१०॥

अनुवाद— *यह आत्मा शिष्य एवं अशिष्य स्वरूप भी नहीं है, न इसमें चर एवं अचर जगत के भेद का विचार ही है। यह सर्वरूप,*

निरन्तर एवं मोक्ष पद वाला है, इसलिए हे मन! तू किस वास्ते रूदन करता है तू सर्व में सम आत्मा है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह आत्मा सर्वरूप, नित्य एवं मोक्ष पद वाला है इसमें शिष्य और अशिष्य भाव नहीं है, चर एवं अचर जगत के भेद का विचार भी नहीं है क्योंकि वही सर्वरूप है। हे मन! फिर तू किस कारण से रूदन करता है तू वही आत्मा है जो सर्व में समरूप है।

ननु रूप विरूप विहीन इति,
ननु भिन्नविभिन्न विहीन इति।
ननु सर्ग विसर्ग विहीन इति,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥११॥

अनुवाद— *निश्चय ही यह (आत्मा) रूप एवं विरूप से विहीन है, निश्चय ही यह भिन्न एवं विभिन्न रूपों से विहीन है, निश्चय ही यह उत्पत्ति एवं प्रलय से भी रहित है फिर हे मन! तू किस वास्ते रूदन करता है। तू आत्मरूप होने से सर्व में सम है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि निश्चय ही यह आत्मा रूप एवं विरूप से विहीन है। न इसका कोई रूप है, न यह बिना रूप वाला ही है क्योंकि सभी रूप उसी के हैं। न यह जगत से भिन्न है, न अभिन्न क्योंकि सम्पूर्ण जगत इसी का रूप है। इसकी न उत्पत्ति होती है, न इसमें प्रलय ही होता है, दोनों से रहित है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू वही आत्मा है जो सर्व में समरस है।

न गुणागुणपाश निबन्ध इति,
मृतजीवनकर्म करोति कथम्।
इति शुद्धनिरंजन सर्वसमं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥१२॥

अनुवाद— *गुण एवं निर्गुण के पाश का बन्धन उसमें (आत्मा से) नहीं है इसलिए वह मृत एवं जीवन के कर्म किस प्रकार करता है। वह शुद्ध, निर्दोष, सर्वरूप एवं सम है फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू वही आत्मा है जो सर्व में सम है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि प्रकृति तीन गुणों वाली है किन्तु आत्मा के कोई गुण नहीं है। गुण नहीं होने से उसे निर्गुण भी नहीं कहा जा सकता। प्रकृति के गुण ही बन्धन का कारण होते हैं आत्मा में इनका कोई बन्धन नहीं है। इन पाशों से मुक्ति के लिए ही जीवन एवं मृत्यु कर्म किए जाते हैं। आत्मा का कोई बन्धन ही नहीं है फिर ये कर्म किस प्रकार सम्भव है। आत्मा शुद्ध, निर्दोष, सर्व में सम है इसलिए हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू प्रकृति नहीं आत्मा है जो सर्व में सम है।

इह भावविभावविहीन इति,
इह काम विकाम विहीन इति।
इह बोधतमं खलु मोक्षसमं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥१३॥

अनुवाद— *यह आत्मा भाव एवं विभाव से रहित है, यह काम एवं विकाम से रहित है। यह ज्ञान स्वरूप एवं निश्चय ही मोक्ष स्वरूप है इसलिए हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है, तू सर्व में सम है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि भाव एवं विभाव तथा काम एवं विकाम चित्त के धर्म हैं आत्मा में ये नहीं हैं। आत्मा ज्ञान स्वरूप एवं मोक्ष रूप है इसलिए हे मन! तू आत्म स्वरूप होने से सर्व में सम है फिर किस कारण से रूदन करता है।

इह तत्त्वनिरन्तरतत्त्वमिति,
नहि सन्धिविसन्धिविहीन इति।
यदि सर्व विवर्जित सर्वसमं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥१४॥

अनुवाद— इसमें (आत्मा में) तत्व अथवा नित्य तत्व का व्यवहार नहीं है, न ही इसमें सन्धि और विसन्धि विहीन का विचार ही है। यदि यह सर्व से रहित सर्व में सम है तो फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू आत्मा होने से सर्व में सम है।

व्याख्या—आत्मा सर्व रहित भी नहीं है क्योंकि सृष्टि में जो कुछ है व आत्मा ही है इसलिए वही सर्व में समान रूप से सर्वत्र व्याप्त है। उसे तत्व अथवा नित्य तत्व भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इससे द्वैत की ही भ्रान्ति होती है, न इसे सन्धि विसन्धि से रहित ही कहा जा सकता है क्योंकि एक रूप देने में दूसरे की भ्रान्ति हो जाती है। वही सर्व में सम रूप है। इसलिए दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे मन! तू क्यों रूदन करता है, तू वही आत्मा है जो सर्व में सम है।

अनिकेतकुटी परिवार समं,
इह संगविसंगविहीन परम्।
इह बोध विबोधविहीन परं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥१५॥

अनुवाद— एकान्त कुटी में रहे अथवा परिवार में रहे सब समान है क्योंकि वह (आत्मा) संग एवं विसंग से रहित है। वह ज्ञान एवं अज्ञान से भी रहित है तथा वही श्रेष्ठ है फिर हे मन! तू किस कारण रूदन करता है। तू वही आत्मा है जो सर्व में सम है।

व्याख्या—आत्मा चूँकि सर्व में सम रूप से सर्वत्र व्याप्त है इसलिए मनुष्य चाहे निराश्रय होकर एकान्त किसी कुटिया में वास करे अथवा

परिवार के साथ रहे कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि वह आत्मा संग एवं विसंग से रहित है। वह बोध एवं अज्ञान से भी रहित ज्ञानी-अज्ञानी सब में समान रूप से है इसलिए ज्ञानी-अज्ञानी होने से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह सब में समान है इसलिए हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू उससे भिन्न नहीं है बल्कि वही आत्मा है जो सर्व में सम है।

अविकार विकारम सत्यमिति,
अविलक्षविलक्षम सत्यमिति।
यदि केवलमात्मनि सत्यमिति,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥१६॥

अनुवाद—*अविकार आत्मा का यह विकार युक्त जगत है यह असत्य है। जो अदृश्य है उसका यह दृश्य जगत असत्य है। जबकि केवल आत्मा ही सत्य रूप है इस लिये हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू आत्मा होने से सर्व में सम है।*

व्याख्या—आत्मा अविकारी है। उसमें कभी विकार नहीं होता। इसलिए जगत को उस आत्मा का विकार कहना असत्य है। निराकार आत्मा का साकार जगत हो ही नहीं सकता इसलिए यह जगत असत्य एवं भ्रान्ति मात्र है, अनित्य है। आत्मा ही नित्य है। इसी प्रकार आत्मा अदृश्य है उसका यह दृश्य जगत नहीं हो सकता इसलिए यह असत्य एवं मिथ्या है। केवल एक आत्मा ही सत्य है। इसलिए हे मन! तू आत्मा होने से क्यों रूदन करता है। तू सर्व में सम है।

इह सर्वसमम् खलु जीव इति,
इह सर्व निरन्तर जीव इति।
इह केवल निश्चल जीव इति,
किमु रोदिषि मानसे सर्वसमम्॥१७॥

अनुवाद— *इस संसार में निश्चय करके जीव ही सर्व एवं सम है, इस संसार में निश्चल केवल जीव ही है। हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम है।*

व्याख्या—द्वैतवादी जीव को आत्मा से भिन्न मानते हैं। वे कहते हैं कि जीवात्मा राग, द्वेष, मोह, ममता, अहंकार, वासना आदि से ग्रस्त है जबकि आत्मा (ब्रह्म) इससे भिन्न एवं इन विकारों से रहित है। श्रुतियों में भी दोनों को भिन्न मानकर कहा गया है कि जीवात्मा कर्ता एवं भोक्ता है जबकि परमात्मा केवल दृष्टा है आदि। किन्तु दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जीव अथवा जीवात्मा परमात्मा का ही अंश होने से वह परमात्मा (ब्रह्म) ही है। दोनों में कोई भेद नहीं है। केवल अविद्या माया के कारण ही वह अपने को भिन्न मानने लग गया है जो उसकी भ्रान्ति मात्र है। वास्तव में भिन्न नहीं है। जब इस अविद्या माया अथवा अज्ञान का पर्दा हटता है तो वह आत्म स्वरूप ही हो जाता है। इसलिए यह जीव भी आत्मा की ही भाँति सर्व में सम है, नित्य है तथा निश्चल है। इसलिए दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे मन! तू वही आत्मा है जो सर्व में सम है फिर किस कारण से रूदन करता है।

अविवेकविवेकमबोध इति,
अविकल्प विकल्पम बोध इति।
यदि चैकनिरन्तरबोध इति,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥१८॥

अनुवाद— *अविवेक और विवेक दोनों अज्ञान है, अविकल्प और विकल्प भी अज्ञान है यदि वही एक नित्य बोध है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह आत्मा नित्य बोध स्वरूप है, विकल्प रहित है तो फिर इसमें अविवेक एवं विवेक तथा विकल्प रहित एवं विकल्प की बात कैसे कही जा सकती है। वह इन दोनों से

रहित है। फिर हे मन! तू आत्मा होने से सर्व में सम है फिर किस कारण से रूदन करता है।

न हि मोक्षपदं न हि बन्धपदं,
नहि पुण्यपदं न हि पापपदम्।
न हि पूर्णपदं न हि रिक्तपदं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥१९॥

अनुवाद— *न मोक्ष पद, न बन्ध पद है, न पुण्य पद है, न पाप पद है, न पूर्ण पद है, न रिक्त पद है। हे मन! तू सर्व में सम है फिर किस कारण से रूदन करता है।*

व्याख्या—बन्ध और मोक्ष, पाप और पुण्य, रिक्त और पूर्ण सापेक्ष है। बन्ध होने पर ही मोक्ष की बात कही जाती है, पाप होने पर ही पुण्य की बात कही जाती है तथा रिक्त होने पर ही पूर्ण की बात कही जाती है। आत्मा चूँकि शुद्ध, एकरस विकार रहित है जिसमें बन्ध, पाप, रिक्तता आदि है ही नहीं तो फिर उसके लिए मोक्ष, पुण्य, पूर्ण आदि का कथन भी नहीं हो सकता। वह द्वन्द्व रहित है। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे मन! तू आत्मा है इसलिये इन सबसे रहित है, सर्व में सम है फिर किस कारण से रूदन करता है।

यदि वर्णविवर्णविहीन समं,
यदि कारणकार्यविहीन समम्।
यदि भेदविभेदविहीन समं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥२०॥

अनुवाद— *यदि यह आत्मा वर्ण एवं विवर्ण से रहित और सम है, यदि यह कारण एवं कार्य से रहित और सम है, यदि यह भेद और विभेद से रहित और सम है तो हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू आत्मा होने से सर्व में सम है।*

व्याख्या—गीता में चार वर्णों वाली सृष्टि की बात कही गई है कि 'यह मेरी सृष्टि चार वर्ण वाली है' किन्तु ये वर्ण आत्मा के नहीं हैं। ये प्रकृति के सत्व, रज एवं तम गुणों के अनुसार होते हैं। आत्मा प्रकृति से परे है जो शुद्ध है। उसमें वर्ण एवं विवर्ण का विभाग नहीं है। इसी प्रकार उसमें कारण एवं कार्य का विभाग भी नहीं है क्योंकि आत्मा का न कोई कारण है कि जिससे वह उत्पन्न हुई हो तथा न उसका कोई कार्य ही है कि यह सृष्टि उसका कार्य है। इसी प्रकार वह भेद एवं विभेद से सर्वथा रहित एवं सम है।

दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे मन! तू ही आत्मा है जो सर्व में सम है। फिर किस कारण से तू रूदन करता है। समस्त दुःखों, सन्ताप आदि का कारण द्वन्द्व है। आत्मा द्वन्द्व रहित है इसलिए दुःखों का कोई कारण ही नहीं है।

सर्व निरन्तर सर्व चिते,
इह केवल निश्चल सर्व चिते।
द्विपदादिविवर्जित सर्व चिते,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥२१॥

अनुवाद—*यह आत्मा सर्वरूप, नित्य एवं सबके चित्तों में रहता है। इस संसार में यही केवल निश्चल भाव से सब चित्तों में रहता है। यह दो पाँव से रहित सबके चित्त में रहता है। हे मन! तू वही आत्मा होने से सर्व में सम है फिर किस कारण से रूदन करता है।*

व्याख्या—यह आत्मा सर्वरूप, नित्य है जो सबके चित्त में निश्चल भाव से सबका साक्षी होकर रहता है। यह दो पाँव वाला नहीं है अर्थात् अचल है। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे मन! तू वही आत्मा है जो सर्व में सम है। फिर किस कारण से तू रूदन करता है।

अतिसर्वनिरन्तर सर्वगतं,
अतिनिर्मलनिश्चल सर्वगतम्।
दिन रात्रि विवर्जित सर्वगतं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥२२॥

अनुवाद— *यह आत्मा श्रेष्ठ, सर्वरूप, नित्य एवं सभी में व्याप्त है, यह अति निर्मल, निश्चल एवं सबमें व्याप्त है, फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम वही आत्मा है।*

व्याख्या—हे मन! जब यह आत्मा सबमें व्याप्त है तथा तू आत्मा ही है जो निर्मल, निश्चल, नित्य एवं सम है तो फिर किस वास्ते रूदन करता है।

न हि बन्धविबन्ध समागमनं,
न हि योगवियोगसमागमनम्।
न हि तर्कवितर्कसमागमनं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥२३॥

अनुवाद— *आत्मा में बन्ध और विबन्ध का समागम नहीं है, न योग और वियोग का समागम है, न तर्क और वितर्क का समागम है। हे मन! फिर तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह आत्मा बन्ध-विबन्ध योग-वियोग तथा तर्क-वितर्क से परे हैं। इसमें इनका समागम नहीं है। यह इन सबसे मुक्त है फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू मन नहीं बल्कि वही आत्मा है। ये सब व्याधियाँ मन एवं बुद्धि की हैं जो तू नहीं है।

इह काल विकाल निराकरणम-
अणुमात्रकृशानु निराकरणम्।
न हि केवल सत्य निराकरणम्
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥२४॥

अनुवाद— *आत्मा में काल एवं विकाल का निराकरण है, इसमें अणु मात्र भी अग्नि का निराकरण है, केवल सत्य का निराकरण इसमें नहीं है। क्योंकि यह स्वयं सत्य है। फिर हे मन! तू किस कारण रूदन करता है। तू सर्व में सम है।*

व्याख्या—आत्मा में काल, विकाल एवं तेज का निराकरण है। ये आत्मा से भिन्न नहीं है बल्कि उसी के भिन्न रूप हैं जिससे इनकी अलग सत्ता नहीं है। इसमें केवल सत्य का निराकरण नहीं है क्योंकि केवल वही सत्य है। इसलिए हे मन! तू आत्मा होने से सत्य स्वरूप, सर्व में सम है। फिर किस कारण से रूदन करता है।

इह देहविदेहविहीन इति,
ननु स्वप्नसुषुप्तिविहीन परम्।
अभिधानविधान विहीन परं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥२५॥

अनुवाद— *यह आत्मा देह और विदेह से रहित है, स्वप्न और सुषुप्ति से भी रहित है, विधि एवं निषेध से भी रहित है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू वही आत्मा है जो सर्व में सम है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मा न देह वाली है, न देह रहित ही है, यह दोनों से ही भिन्न है। यह स्वप्न और सुषुप्ति से भी रहित है। स्वप्न और सुषुप्ति मन की अवस्थाएँ हैं आत्मा की नहीं हैं। यह विधि निषेध से भी रहित है फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू वही आत्मा है जो सर्व में सम है।

गगनोपमशुद्धविशाल समम-
विसर्वविवर्जित सर्वसमम्।
गतसारविसार विकारसमं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥२६॥

अनुवाद— *यह आत्मा आकाश के समान व्यापक, शुद्ध, विशाल एवं सम है, यह सर्व से रहित नहीं है किन्तु सर्व में सम है, यह सार, विसार एवं विकार से रहित है तथा सम है। फिर हे मन! तू किस कारण रूदन करता है। तू सर्व में सम है।*

व्याख्या—आत्मा ब्रह्म ही है जो आकाश के समान सर्व व्यापक, शुद्ध, दोष रहित, विशाल एवं सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है। यह सर्व से रहित भी नहीं है बल्कि यही सर्व है। इससे भिन्न कुछ भी नहीं है। यह सार, विसार एवं सभी विकारों से रहित है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू ही सर्व में सम है।

इह धर्मविधर्मविरागतरं-
इह वस्तुविवस्तु विरागतरम्।
इह कामविकाम विरागतरं-
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥२७॥

अनुवाद— *इस संसार में धर्म और विधर्म से वैराग्य ही श्रेष्ठ है, काम और विकाम से वैराग्य ही श्रेष्ठ है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम है।*

व्याख्या—ज्ञान प्राप्ति के बाद जीवन्मुक्त ज्ञानी केवल आत्मा को ही अपना स्वरूप समझता है। उसका संसार की सभी वस्तुओं से वैराग्य हो जाता है। वह केवल आत्मा में ही स्थित होकर उसी परमानन्द में लीन रहता है। उसका विधर्म से ही वैराग्य नहीं होता बल्कि धर्म से भी वैराग्य हो जाता है। फिर उसे किसी धर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती। धर्म भी उसके लिए बन्धन का कारण बन जाता है। इसी प्रकार सभी भौतिक वस्तुओं एवं विवस्तुओं से भी वैराग्य हो जाता है। वस्तु की वासना से भी वैराग्य हो जाता है। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि सभी प्रकार का वैराग्य हो जाता है। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि सभी प्रकार का वैराग्य होना ही श्रेष्ठ है तथा यही आत्म-ज्ञान का लक्षण है। इसलिए हे

मन! तू आत्मा है जिससे सर्व में सम है फिर तू किस कारण रूदन करता है। तू वैराग्य को ग्रहण कर।

सुखदुःखविवर्जित सर्वसमं,
इह शोकविशोक विहीन परम्।
गुरु शिष्य विवर्जित सत्त्व परम्,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥२८॥

अनुवाद— *यह आत्मा सुख और दुःख से रहित सर्व एवं सम है, यह शोक और विशोक से रहित परम है, यह गुरु एवं शिष्य से रहित परम सत्व है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह आत्मा सुख-दुःख से रहित है सर्वरूप एवं सम है। सुख-दुःख मन के धर्म हैं आत्मा के नहीं हैं। यह शोक एवं विशोक से भी रहित है तथा गुरु-शिष्य भाव से भी रहित है। यह परम सत्व है। इसलिए हे मन! तू किस कारण रूदन करता है। तू वही आत्मा है जो सर्व में सम है।

न किलांकुर सारविसार इति,
न चलाचलसाम्यविसाम्य मिति।
अविचारविचार विहीन मिति,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥२९॥

अनुवाद— *आत्मा में निश्चय ही सार एवं विसार का अंकुर भी नहीं है, चल, अचल, साम्य एवं वैषाम्य भी इसमें नहीं है, यह विचार एवं अविचार से भी रहित है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम आत्मा है।*

व्याख्या—सार एवं असार का विचार मन का है, आत्मा में इसका अंकुर भी नहीं है जिसे वह किसी को सार एवं विसार कहे। चल,

अचल, साम्य, वैषम्य आदि के विचार भी मन के ही हैं, आत्मा में इनका विचार ही नहीं है। यह विचार एवं अविचार से भी रहित है। ये मन के धर्म हैं। आत्मा के नहीं। इसलिए हे मन! तू आत्मा होने से सबसे रहित सर्व में सम है। फिर किस कारण से रूदन करता है।

इह सारसमुच्चयसारमिति,
कथितं निजभावविभेद इति।
विषये करणत्वमसत्यमिति,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥३०॥

अनुवाद— *यह आत्मा सार समुच्चय (सभी प्रकार के सारों का) का भी सार है ऐसा कहा गया है। अपने भाव से भी इसका विभेद है (यह भाव रूप नहीं है), विषयों का करणत्व (कार्य) यही है ऐसा असत्य ही कहा गया है। फिर हे मन! तू किस कारण रूदन करता है। तू सर्व में सम है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह आत्मा सभी प्रकार के सार पदार्थों का सार है। सभी प्रकार के सार पदार्थों का सार इसी के कारण है अन्यथा सभी निःसार है।

यह समस्त भाव जगत अन्तःकरण के कारण हैं, आत्मा इससे भी परे का तत्व है। यह स्वयं भाव रूप नहीं है। इन्द्रियों के जो विषय हैं उनका कार्य भी आत्मा का कार्य नहीं है। जहाँ इन कार्यों को आत्मा का कार्य कहा जाता है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू आत्मा होने से सर्व में सम है।

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति यतो,
विपदादिरिदं मृगतोयसमम्।
यदि चैक निरन्तर सर्व समं,
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥३१॥

अनुवाद— *अनेक श्रुतियाँ कथन करती हैं कि जितना भी यह*

आकाशादि प्रपंच है वह मृगतृष्णा के जल के समान है। और यह एक चेतन ही नित्य एवं सर्व में सम है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू वही आत्म है जो सभी में समान रूप से है।

व्याख्या—सभी श्रुतियाँ यही कहती हैं कि यह आत्मा ही एकमात्र सत्य है जो नित्य एवं सर्व में समान है तथा ये आकाशादि समस्त प्रपंच मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या है। यह सार तत्व नहीं है। इसलिए हे तन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू आत्मा होने से सर्व में सम है।

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र,
छन्दो लक्षणं नहि नहि तत्र।
समरसमग्नो भावितपूतः,
प्रजपति तत्त्वं परमवधूतः ॥३२॥

अनुवाद— *परम अवधूत (श्रेष्ठ ज्ञानी) जिसका अन्तःकरण पवित्र है उस एकरस आत्मा में ही मग्न रहता है तथा उस आत्मतत्व का ही कथन करता है। जिसमें छन्द और लक्षण नहीं हैं उसी आत्मा को प्राप्त होता है।*

व्याख्या—वेद उपनिषद आदि शास्त्रों में छन्द एवं उनके लक्षण हैं जिनको जानने वाला ज्ञानी पंडित ही हो सकता है, ज्ञानी नहीं होता किन्तु श्रेष्ठ ज्ञानी (अवधूत) इन छन्द एवं लक्षणों में नहीं रमता आत्मा छन्द एवं लक्षणों से नहीं जानी जाती। उसे जानकर ज्ञानी जिसका अन्तःकरण पवित्र हो गया है वह उस एकरस आत्मा में ही मग्न रहता है तथा इसी का कथन करता है। अन्य किसी शास्त्रों के छन्द एवं लक्षण का कथन नहीं करता, न उसकी व्याख्या ही करता है कि शास्त्रों में क्या लिखा है, वेद, पुराण, उपनिषद में क्या लिखा है, गीता क्या कहती है आदि। उसने जब सारभूत तत्व को जान लिया, उसे प्रत्यक्ष कर लिया फिर शास्त्रों का उसके लिए कोई प्रयोजन ही नहीं रहा। सभी शास्त्र अज्ञानियों के लिए हैं। ज्ञानी स्वयं शास्त्र है।

॥ पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥

छठवाँ अध्याय

अवधूत उवाच

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति वयं,
विपदादिरिदं मृगतोयसमम्।
यदि चैकनिरन्तर सर्वशिवम्,
उपमेयमथो ह्युपमा च कथम्॥१॥

अनुवाद— अनेक श्रुतियाँ हमें कहती हैं कि यह आकाश आदि प्रपंच मृगतृष्णा के जल के समान है। यदि यह एक ही चेतन नित्य, सर्व एवं शिव स्वरूप है तो यह उपमेय और उपमा किस प्रकार हो सकता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि अनेक श्रुतियाँ एक ही बात कहती हैं कि यह आकाश आदि समस्त जगत प्रपंच मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या है। केवल एक ही चेतन तत्व नित्य है जो सर्वत्र व्याप्त है तथा वही शिवरूप (कल्याणकारी) है। जब सर्वत्र एक ही चेतन आत्मा व्याप्त है तो फिर किसको उपमा एवं किसको उपमेय कहा जाए। अर्थात उसकी अन्य किसी से उपमा नहीं दी जा सकती क्योंकि दूसरा कोई है ही नहीं फिर किससे उपमा दी जाए।

अविभक्तिविभक्तिविहीन परं,
ननु कार्यविकार्य विहीन परम्।
यदि चैकनिरन्तर सर्व शिवं,
यजनं च कथं तपनं च कथम्॥२॥

अनुवाद— यह चेतन तत्व अविभक्ति एवं विभक्ति से रहित परम तत्व है, निश्चय ही यह कार्य विकार्य से भी रहित है। यदि यह एक ही नित्य, सर्व रूप एवं शिव है तो फिर यजन और तप कैसे हो सकता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह चेतन तत्व ऐसा है जिसका न विभाग ही है, न अविभक्त ही है क्योंकि सभी विभाग उसी के हैं। वह परम तत्व है जो कार्य एवं विकार्य से भी रहित है। यदि वह चेतन तत्व ही सर्वरूप, नित्य एवं कल्याण स्वरूप है, दूसरा कोई है ही नहीं तो फिर पूजा अर्चना एवं तपस्या किस प्रकार हो सकती है। भाव यह है कि जिस ज्ञानी को आत्मस्वरूष का बोध हो गया उसके लिए पूजन एवं तपस्या का कोई अर्थ ही नहीं है। ये क्रियाएँ अज्ञानियों के लिए ही हैं।

मन एव निरन्तर सर्वगतं,
ह्यविशाल विशाल विहीन परम्।
मन एव निरन्तर सर्व शिवं,
मनसापि कथं वचसा च कथम्॥३॥

अनुवाद— मन ही निरन्तर एवं सर्वगत है, निश्चय ही यह अविशाल और विशाल से रहित है, मन ही नित्य, सर्व एवं शिवरूप है। इसलिये उस आत्मा को मन और वाणी से कैसे जाना जाये।

व्याख्या—यह सम्पूर्ण सृष्टि मन की ही रचना है, वास्तव में इसका स्वरूप वास्तविक नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न में मन की कल्पना से ही विभिन्न रूप दिखाई देते हैं उसी प्रकार यह समस्त दृश्य जगत मन के विस्तार की कल्पना ही है। सत्य नहीं है। यह जगत मन का ही प्रक्षेपण है इसलिए यह मन भी नित्य एवं सर्वगत है। यह विशालता एवं अविशालता से रहित भी हैं। यह समस्त सृष्टि जितना विशाल भी है एवं शान्त होने पर यह एक केन्द्र में स्थिर भी हो जाता है। यह मन ही सर्व रूप एवं शिव है क्योंकि यह भी उस ब्रह्म चेतन से प्रकट हुआ है

इसलिए वह आत्मा, मन एवं वाणी का विषय ही नहीं है। भाव यह है कि मन उस आत्मा को नहीं जान सकता न वाणी उसका कथन ही कर सकती है। मन विराट होते हुए भी आत्मा का एक छोटा सा रूप ही है।

दिनरात्रिविभेद निराकरणम्,
उदितानुदितस्य निराकरणम्।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं,
रविचन्द्रमसौ ज्वलनश्च कथम्॥४॥

अनुवाद— *दिन और रात्रि का भेद भी उसमें नहीं है। उदय और अस्त का भेद भी उसमें नहीं है। यदि वह एक ही नित्य और सर्वरूप शिव है तो फिर सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि उसमें कैसे हो सकती है।*

व्याख्या—यह ब्रह्म चेतन एक ही तत्व है उसमें दिन और रात्रि का कोई विभाग नहीं है, वह नित्य है जिसका कभी उदय अस्त नहीं होता। यदि वह एक ही परम चेतन तत्व सर्वत्र है जो शिव रूप है तो फिर उसमें सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्नि का भिन्न विभाग कैसे हो सकता है कि यह सूर्य है, यह चन्द्रमा है, यह अग्नि है आदि का कथन भी नहीं हो सकता। सभी ब्रह्मरूप ही है। उससे भिन्न नहीं हैं।

गतकामविकामविभेद इति,
गतचेष्टविचेष्ट विभेद इति।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं,
बहिरन्तर भिन्नमतिश्च कथम्॥५॥

अनुवाद— *काम एवं विकाम का भेद उसमें नहीं है, चेष्टा और विचेष्टा का भेद भी उसमें नहीं है। यदि वह एक ही नित्य, सर्वरूप एवं शिव है तो फिर वह बाहर और भीतर भिन्न है ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है।*

व्याख्या—वह एक ही ब्रह्म चेतन सर्वत्र समरूप से व्याप्त है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है फिर उसमें काम एवं विकास का, चेष्टा और विचेष्टा का भेद कैसे हो सकता है। जब वह एक ही नित्य एवं शिव रूप है तो फिर उसे बाहर और भीतर भिन्न कैसे कहा जा सकता है कि शरीर के भीतर चेतन का नाम आत्मा है तथा बाहर के चेतन का नाम ब्रह्म है। दोनों में अब भिन्नता ही नहीं है तो फिर उसे आत्मा और ब्रह्म भिन्न नाम से कैसे कहा जा सकता है।

यदि सारविसार विहीन इति,
यदि शून्यविशून्य विहीन इति।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं,
प्रथमं च कथं चरमं च कथम्॥६॥

अनुवाद— *यदि वह ब्रह्म सार एवं असार से रहित है, यदि वह शून्य और अशून्य से भी रहित है ऐसा कहा जाता है। यदि वह नित्य, सर्वरूप एवं शिव है तो फिर उसे आदि व अन्त वाला कैसे कहा जा सकता है।*

व्याख्या—श्रुतियाँ कहती हैं कि वह ब्रह्म एक ही अद्वितीय है। वह सार एवं असार से तथा शून्य एवं अशून्य से भी रहित है। यदि वह नित्य, सर्वरूप एवं कल्याण स्वरूप है तो फिर उसे आदि एवं अन्त वाला कैसे कहा जा सकता है।

यदि भेदविभेदनिराकरणम्,
यदि वेदकवैद्य निराकरणम्।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं,
तृतीयं च कथं तुरीयं च कथम्॥७॥

अनुवाद— *यदि वह ब्रह्म भेद और विभेद से रहित है यदि उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं है, यदि वह एक ही नित्य,*

सर्वरूप एवं शिव है तो फिर उसमें तृतीय अवस्था (सुषुप्ति) एवं तुरीयावस्था का भेद कैसे हो सकता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि ब्रह्म में किसी प्रकार का द्वैत नहीं है। वह भेद एवं विभेद से रहित है, वह एक ही है इसलिए उसमें ज्ञाता एवं ज्ञेय का भी भेद नहीं है। वह एक ही है जो नित्य, सर्वरूप एवं कल्याण स्वरूप है फिर उसमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीयावस्था कैसे हो सकती है। ये चारों अवस्थाएँ मन की हैं। आत्मा की नहीं है।

गदितागदितं न हि सत्यमिति,
विदिताविदितं न हि सत्यमिति।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं,
विषयेन्द्रियबुद्धिमनांसि कथम्॥८॥

अनुवाद— *ब्रह्म के बारे में जो कहा गया है और जो नहीं कहा गया है दोनों सत्य नहीं हैं। जो विदित है और अविदित है दोनों सत्य नहीं है। यदि वह चेतन नित्य, सर्व एवं शिव रूप एक ही है तो ये विषय, इन्द्रियाँ, बुद्धि और मन कैसे हो सकते हैं।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि वह ब्रह्म चेतन नित्य सर्वरूप एवं शिव रूप एक ही है जो अति सूक्ष्म है। वह किसी प्रकार जाना नहीं जा सकता। इसलिए उसके विषय में जो कुछ कहा गया है वह सत्य नहीं है तथा जो नहीं कहा गया है वह भी सत्य नहीं है क्योंकि उसका पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। इसी प्रकार जो कहता है मैंने उसे जान लिया है वह भी सत्य नहीं है क्योंकि वह जानने में नहीं आ सकता तथा जो कहता है वह जाना नहीं जा सकता वह भी सत्य नहीं है। यदि वही ब्रह्म नित्य, सर्वरूप एवं कल्याण स्वरूप है तथा एक ही है फिर विषय, इन्द्रियाँ, बुद्धि एवं मन का भिन्न रूप से कथन कैसे हो सकता है? भाव यह है कि ये उनसे किसी प्रकार भिन्न नहीं है जिससे ब्रह्म को जाना जा सके। वह स्वयं जानने वाला है। दूसरा कोई

है ही नहीं तो जानने वाला और जाना जाने वाला कैसे हो सकता है। यह दो होने पर ही सम्भव है।

गगनं पवनो न हि सत्यमिति,
धरणी दहनो नहि सत्यमिति।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं,
जलदश्च कथं सलिलं च कथम्॥९॥

अनुवाद— आकाश और वायु सत्य नहीं है, पृथ्वी और अग्नि भी सत्य नहीं हैं। यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो यह बादल और जल किस प्रकार सत्य हो सकते हैं।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि केवल एक ब्रह्म ही सत्य है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिए आकाश, वायु, पृथ्वी, अग्नि, बादल और जल आदि सत्य नहीं है। ये सभी ब्रह्म के ही भिन्न-भिन्न रूप मात्र हैं जो ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं।

यदि कल्पितलोक निराकरणं,
यदि कल्पित देव निराकरणम्।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं,
गुणदोष विचारमतिश्च कथम्॥१०॥

अनुवाद— शास्त्रों में इसका निराकरण किया गया है कि ये सभी लोक कल्पित हैं, ये सभी देवता कल्पित हैं। केवल एक ब्रह्म ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर गुण दोष विचार वाली बुद्धि कैसे सत्य हो सकती है।

व्याख्या—वेद वाक्य अथवा अन्य वेदान्त ग्रन्थों में सर्वत्र इसी का निराकरण किया गया है कि सर्वत्र एक वही ब्रह्म नित्य, सर्व एवं शिव रूप है। दूसरा कुछ है ही नहीं। जो दिखाई देता है वह सब मन की कल्पना मात्र है। ये लोक, देवता सभी कल्पित हैं क्योंकि ब्रह्म से भिन्न

कुछ है ही नहीं फिर गुण-दोष पर विचार करने वाली बुद्धि निम्न प्रकार सत्य हो सकती है। यह भी कल्पित ही है।

मरणामरणं हि निराकरणं,
करणाकरणं हि निराकरणम्।
यदि चैकनिरन्तर सर्व शिवं,
गमनागमनं हि कथं वदति॥११॥

***अनुवाद**— वेद ग्रन्थों में जन्म एवं मृत्यु का निराकरण किया गया है, कर्तव्य एवं अकर्तव्य का भी निराकरण किया गया है। यदि वह ब्रह्म एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर गमनागमन किस प्रकार कहा जा सकता है।*

व्याख्या—वेदादि ग्रन्थों में इसका स्पष्ट निराकरण किया गया है कि आत्मा का न जन्म होता है न मृत्यु। वह नित्य एवं शाश्वत है, उसके न कोई कर्तव्य हैं, न अकर्तव्य अर्थात वह कर्त्ता, भोक्ता आदि से रहित है। उसका कोई कर्म नहीं है। वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है। फिर उसका गमनागमन कैसे होता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु होती है, उसका पुनर्जन्म होता है, वह विभिन्न योनियों में जन्म होता है, वह कर्त्ता है, भोक्ता है, कर्म फलों का वह भोग करता है आदि। यह सब मिथ्या कल्पना है जो आत्मा के लिए कहा जाता है। आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रकृतिःपुरुषों न हि भेद इति,
नहि कारण कार्य विभेद इति।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं,
पुरुषापुरुषं च कथं वदति॥१२॥

***अनुवाद**— इसमें प्रकृति और पुरुष का भेद नहीं है, न ही कारण एवं कार्य का विभेद ही है। यदि सर्वत्र एक ही नित्य सर्वरूप*

एवं शिव आत्मा ही है तो फिर पुरुष और अपुरुष (प्रकृति) किस प्रकार कहा जाता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि ब्रह्म एक ही है जो नित्य, सर्व एवं शिव है, दूसरा कुछ है ही नहीं फिर प्रकृति और पुरुष को भिन्न-भिन्न कैसे माना जा सकता है। इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि पुरुष कारण है एवं प्रकृति उसका कार्य है। जब इस सृष्टि में दो भिन्न सत्ताएँ हैं ही नहीं तो फिर यह पुरुष है और यह प्रकृति है, पुरुष चेतन है, प्रकृति जड़ है आदि किस प्रकार कहा जा सकता है। ये भेद व्यवहार के लिए है, वास्तव में ब्रह्म में ऐसा कोई भेद नहीं है। वह एक ही तत्व है।

तृतीयं न हि दुःखसमागमनं,
न गुणाद्द्वितीयस्य समागमनम्।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं,
स्थविरश्च युवा च शिशुश्च कथम्॥१३॥

अनुवाद— *ब्रह्म में तीन प्रकार के दुःखों का समागम नहीं है, न ही दोनों गुणों का समागम है। यदि सर्वत्र एक ही नित्य शिव रूप ब्रह्म है तो फिर बुढ़ापा, युवावस्था एवं शिशु अवस्था किस प्रकार कही जा सकती है।*

व्याख्या—संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं—शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक। इन तीनों का समागम आत्मा में नहीं है। आत्मा को सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। वह केवल दृष्टा है। इसी प्रकार सत्व एवं तम दो गुण हैं जो प्रकृति के हैं। आत्मा में इन गुणों का समागम नहीं है। वह निर्गुण है। बुढ़ापा, युवावस्था एवं शिशु अवस्था केवल शरीर की है, आत्मा में ये तीनों अवस्थाएँ नहीं हैं। वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव रूप है।

ननु आश्रमवर्णविहीनपरं,
ननु कारणकर्तुविहीन परम्।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवम-
विनष्टविनष्ट मतिश्च कथम्॥१४॥

अनुवाद— *निश्चय ही आत्मा आश्रम और वर्ण से रहित श्रेष्ठ है, निश्चय ही यह कारण एवं कार्य से रहित श्रेष्ठ है। यदि यह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो इसमें नाश होने वाली एवं नाश रहित बुद्धि कैसे हो सकती है।*

व्याख्या—आत्मा का न कोई आ,श्रम है, न वर्ण। वह एक ही श्रेष्ठ तत्व है। उसमें कारण एवं कार्य का भेद भी नहीं है। यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर उसमें नष्ट होने वाली एवं अविनाशी बुद्धि भिन्न कैसे हो सकती है। भाव यह है कि बुद्धि जैसी कोई भिन्न वस्तु नहीं है।

ग्रसिताग्रसितं च वितथ्यामिति,
जनिताजनितं च पितभ्यमिति।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं,
अविनाशिविनाशि कथं हि भवेत्॥१५॥

अनुवाद— *ग्रसने वाला और ग्रसित दोनों ही मिथ्या हैं। उत्पन्न करने वाला और उत्पन्न हुआ दोनों ही मिथ्या हैं। यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर वह अविनाशी एवं नाश होने वाला कैसे हो सकता है।*

व्याख्या—वह ब्रह्म एक ही है जो नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर उसे ग्रसने वाला और ग्रसित, उत्पन्न करने वाला और उत्पन्न होने वाला कैसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार उसे अविनाशी एवं विनाशी कहना भी मिथ्या ही है क्योंकि उसमें कहीं भी द्वैत नहीं है।

पुरुषापुरुषस्य विनष्टमिति,
वनितावनितस्य विनष्टमिति।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं,
अविनोदविनोद मतिश्च कथम्॥१६॥

अनुवाद— *आत्मा में पुरुष एवं अपुरुष का भाव नहीं है, उस में स्त्री एवं अस्त्री का भाव भी नहीं है। यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर उसमें अविनोद और विनोद की बुद्धि किस प्रकार हो सकती है।*

व्याख्या—आत्मा एक चेतन तत्व है। उसमें किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं है, वह पुरुष है अथवा अपुरुष, वह स्त्री है अथवा स्त्री नहीं है इस प्रकार का कोई भाव ही नहीं है फिर उसमें विनोद और अविनोद की बात कैसे कही जा सकती है। क्योंकि आत्मा एक है, नित्य है, सर्व है एवं शिव रूप है। उसमें द्वैत है ही नहीं फिर विनोद और अविनोद कैसे हो सकता है। यह तो दो होने पर ही सम्भव है। एक आत्मा में सम्भव नहीं है।

यदि मोहविषाद विहीन परो,
यदि संशयशोक विहीन परः।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवम्,
अहमेतिममेति कथं च पुनः॥१७॥

अनुवाद— *जब वह आत्मा मोह एवं विषाद से रहित इनसे परे है, यदि वह संशय और शोक से रहित और इनसे परे है, यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर 'मैं' और 'मेरा' इस प्रकार का कथन कैसे हो सकता है।*

व्याख्या—मोह और विषाद, संयम और शोक ये मन के धर्म हैं, इसी की वृत्तियाँ हैं। आत्मा मन से परे एक चेतन तत्व है जिसका इनसे

कोई सम्बन्ध नहीं है। वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव रूप है फिर उस एक में 'मैं' और 'मेरा' का कथन कैसे हो सकता है। 'मैं' और 'मेरा' कहने में दो का होना अनिवार्य है। आत्मा में दो हैं ही नहीं इसलिए यह कथन सम्भव नहीं है।

ननु धर्मविधर्म विनाश इति,
ननु बन्धविबन्ध विनाश इति।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवम्,
इह दुःखविदुःखमतिश्च कथम्॥१८॥

अनुवाद— *निश्चय ही आत्मा धर्म एवं विधर्म से रहित है निश्चय ही वह बन्ध और मुक्ति से भी रहित है। यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर उसमें सुख एवं दुःख की बुद्धि किस प्रकार हो सकती है।*

व्याख्या—धर्म एवं अधर्म मन के होते हैं। ये दोनों ही बन्धन का कारण होते हैं। आत्मा इन दोनों प्रकार के बन्धनों से मुक्त है, वह बन्धन और मुक्ति से भी परे एक ही चेतन तत्व है जो नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर उसमें सुख-दुःख की कल्पना कैसे की जा सकती है।

न हि याज्ञिकयज्ञ विभाग इति,
न हुताशनवस्तु विभाग इति।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवम्,
वद कर्मफलानि भवन्ति कथम्॥१९॥

अनुवाद— *आत्मा में याज्ञिक और यज्ञ का विभाग नहीं है, न हवन सामग्री एवं अग्नि का विभाग ही है। यदि वह एक ही निरन्तर, सर्व एवं शिव है तो फिर कहो उसमें कर्मों का फल किस प्रकार होता है।*

व्याख्या—आत्मा एक ही नित्य, सर्व एवं शिव रूप है, उसमें याज्ञिक (यज्ञ कसने वाला) एवं यज्ञ (यज्ञ क्रिया) का कोई भेद ही नहीं

है, न हवन सामग्री एवं अग्नि जैसा कोई भेद ही है। फिर उसमें कर्मों का फल किस प्रकार हो सकता है। कर्म, कर्मफल आदि आत्मा में नहीं होते। जो ज्ञानी आत्मज्ञान को प्राप्त हो गया है उसे कर्म फलों का भोग नहीं होता।

ननु शोक विशोक विमुक्त इति,
ननु दर्प विदर्प विमुक्त इति।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवम्,
ननु राग विराग मतिश्च कथम्॥२०॥

अनुवाद— निश्चय ही आत्मा शोक-विशोक से मुक्त है, निश्चय ही वह अहंकार एवं निरहंकार से भी मुक्त है। यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर उसमें राग एवं विराग की बुद्धि किस प्रकार हो सकती है।

व्याख्या—शोक, संताप, सुख-दुःख आदि सभी मन के धर्म हैं आत्मा इन सबसे मुक्त है। वह अहंकार एवं निरहंकार से भी मुक्त है। वह केवल चेतन, सर्व नित्य एवं शिव है फिर उसमें राग-विराग की बुद्धि कैसे हो सकती है। राग एवं विराग दो होने पर ही होता है। एक में किससे राग हो अथवा विराग हो। ये मन के धर्म हैं।

न हि मोहविमोह विकार इति,
न हि लोभविलोभ विकार इति।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवम्,
ह्यविवेकविवेक मतिश्च कथम्॥२१॥

अनुवाद— आत्मा में मोह विमोह का विकार नहीं है, न ही लोभ और अलोभ का विकार ही है। यदि यह आत्मा एक ही, नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर उसमें अविवेक और विवेक बुद्धि किस प्रकार हो सकती है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मा सर्व शुद्ध है, उसमें मोह, विमोह, लोभ, अलोभ आदि का कोई विकार ही नहीं है। ये सभी विकार मन के हैं। यदि यह आत्मा सर्व, नित्य, शिव एवं एक ही है तो फिर उसमें अविवेक और विवेक बुद्धि किस प्रकार हो सकती है। द्वैत उसमें कहीं नहीं है।

त्वमहं न हि हन्त कदाचिदपि,
कुल जाति विचारम सत्यमिति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति,
अभिवादन मन्त्र करोमि कथम्॥२२॥

अनुवाद— खेद है कि आत्मा में तू और मैं का भेद कदापि नहीं है तथा उसमें कुल एवं जाति का विचार भी असत्य ही है। परमार्थ रूप में मैं ही कल्याणकारी आत्मा हूँ फिर मैं किस प्रकार यहाँ अभिवादन करूँ।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह आत्मा एक ही सर्वत्र व्याप्त है। सभी में एक ही आत्मा है जिससे इसमें 'मैं' और 'तू' का भेद कदापि नहीं है क्योंकि 'मैं' और 'तू' का भेद मात्र शरीर का है, आत्मा दोनों में एक है तथा इसमें कुल और जाति का भी भेद नहीं है। आत्मा का न कोई कुल है, न परिवार है न कोई जाति। यह भेद भी असत्य ही है। परमार्थ रूप में मैं स्वयं वही आत्मा हूँ जो शिव रूप है फिर मैं किसका अभिवादन करूँ क्योंकि मेरे अलावा दूसरा कोई है ही नहीं जिसका अभिवादन किया जाए।

गुरुशिष्यविचार विशीर्ण इति,
उपदेशविचार विशीर्ण इति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति,
अभिवादन मंत्र करोमि कथम्॥२३॥

अनुवाद— आत्मा में गुरु शिष्य का विचार भी नहीं है जिससे उपदेश का विचार भी नहीं है। मैं ही परमार्थ में शिव रूप हूँ। फिर मैं यहाँ किस प्रकार अभिवादन करूँ।

व्याख्या—आत्मा एक है जिससे उसमें गुरु शिष्य का विचार ही नहीं बनता तथा इनके अभाव में उपदेश का विचार भी नहीं बनता क्योंकि एक होने से कौन किसको उपदेश दे। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि परमार्थ रूप में मैं ही शिवरूप आत्मा हूँ इसलिये मैं किसकी वन्दना करूँ। जिसकी वन्दना की जाती है वह मैं स्वयं हूँ। दूसरा कोई है ही नहीं फिर किसका अभिवादन करूँ।

न हि कल्पित देह विभाग इति,
न हि कल्पित लोक विभाग इति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति,
अभिवादन मंत्र करोमि कथम्॥२४॥

अनुवाद— कल्पित देह से भी आत्मा का भेद सिद्ध नहीं होता, कल्पित लोकों से भी इसका भेद सिद्ध नहीं होता। मैं ही परमार्थ में शिव रूप आत्मा हूँ फिर मैं किस प्रकार अभिवादन करूँ।

व्याख्या—यह शरीर आत्मा में ही कल्पित है इसलिए भी इसका आत्मा में भेद सिद्ध नहीं होता, इसी प्रकार ये लोक भी आत्मा से भिन्न नहीं है बल्कि उसी में कल्पित है इसलिए वे भिन्न नहीं हैं। मैं स्वयं शिव रूप आत्मा हूँ फिर मैं किसका व किस प्रकार अभिवादन करूँ।

सरजो विरजो न कदाचिदपि,
ननु निर्मल निश्चल शुद्ध इति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति,
अभिवादन मंत्र करोमि कथम्॥२५॥

अनुवाद— वह आत्मा कभी भी राग एवं विराग वाली नहीं है,

निश्चय ही यह निर्मल, निश्चल एवं शुद्ध है। मैं परमार्थ रूप में वही शिवरूप आत्मा हूँ फिर मैं किस प्रकार अभिवादन करूँ।

व्याख्या—यह आत्मा राग एवं विराग से रहित है क्योंकि यह एक ही निर्मल, निश्चल एवं शुद्ध है। मैं वही कल्याण स्वरूप आत्मा हूँ। फिर मैं किस प्रकार व किसका अभिवादन करूँ।

नहि देह विदेह विकल्प इति,
अनृतं चरितं न हि सत्यमिति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति,
अभिवादन मंत्र करोमि कथम्॥२६॥

अनुवाद— *उस आत्मा में देह और विदेह का विकल्प भी नहीं है, उसमें मिथ्या चरित्र भी सत्य नहीं है। मैं ही परमार्थ रूप में वही शिव रूप आत्मा हूँ। फिर मैं किस प्रकार अभिवादन करूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मा में देह और विदेह का विकल्प नहीं है क्योंकि वह एक ही है। वही एक मात्र सत्य है इसलिए उसे मिथ्या अथवा भ्रम नहीं कहा जा सकता। मैं परमार्थ में वही आत्मा हूँ इसलिए मैं किस प्रकार अभिवादन करूँ।

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र,
छन्दोलक्षणं नहि नहि तत्र।
समरसमग्नो भावितपूतः,
प्रजपति तत्त्वं परमवधूतः॥२७॥

अनुवाद— *परम अवधूत (श्रेष्ठ ज्ञानी) जिसका अन्तःकरण पवित्र है वह उस एकरस आत्मा में ही मग्न रहता है तथा उसी का कथन करता है जिसमें छन्द और लक्षण नहीं है उसी आत्मा को प्राप्त होता है।*

व्याख्या—वेद उपनिषद आदि शास्त्रों में छन्द एवं उनके लक्षण हैं

जिनको जानने वाला पंडित ही हो सकता है ज्ञानी नहीं होता किन्तु श्रेष्ठ ज्ञानी (अवधूत) इन छन्द एवं लक्षणों में नहीं रमता आत्मा छन्द एवं लक्षणों से नहीं जानी जाती। उसे जानकर ज्ञानी जिसका अन्त:करण पवित्र हो गया है वह उस एकरस आत्मा में ही मग्न रहता है तथा इसी का कथन करता है। अन्य किसी शास्त्रों के छन्द एवं लक्षण का कथन नहीं करता, न उसकी व्याख्या ही करता है कि शास्त्रों में क्या लिखा है, वेद, पुराण, उपनिषद में क्या लिखा है, गीता क्या कहती है आदि। उसने जब सारभूत तत्व को जान लिया, उसे प्रत्यक्ष कर लिया फिर शास्त्रों का उसके लिए कोई प्रयोजन ही नहीं रहा। सभी शास्त्र अज्ञानियों के लिए हैं। ज्ञानी स्वयं शास्त्र है।

॥ छठवाँ अध्याय समाप्त ॥

सातवाँ अध्याय

श्री दत्त उवाच

रथ्याकर्पटविरचितकन्थः,
पुण्यापुण्य विवर्जित पन्थः।
शून्यागारे तिष्ठति नग्नो,
शुद्ध निरंजन समर समग्नः॥१॥

अनुवाद—*जीवन्मुक्त अवधूत गलियों में पड़े चिथड़ों की झोली बनाकर, पाप और पुण्य रहित मार्ग पर चलता हुआ नग्न होकर शून्य मन्दिर में स्थित होकर शुद्ध, निर्दोष एवं समरस आत्मा में ही लीन रहता है।*

व्याख्या—जीवन मुक्त ज्ञानी संन्यासी संसार की सभी प्रकार की वासनाओं का त्याग करके केवल फटे पुराने कपड़ों की झोली बनाकर, पाप एवं पुण्य दोनों से रहित होकर विषय वासना आदिं का त्याग कर पूर्ण नग्नावस्था में रहता हुआ आत्मा रूपी शून्य मन्दिर में ही स्थित रहता है जो शुद्ध, निर्दोष एवं समरस है। वह ब्रह्मानन्द में ही मग्न रहता है।

लक्ष्यालक्ष्य विवर्जित लक्ष्यो,
युक्तायुक्त विवर्जित दक्षः।
केवल तत्त्वनिरंजनपूतो,
वादविवादः कथमवधूतः॥२॥

अनुवाद—*लक्ष्य और अलक्ष्य से रहित ही जिसका लक्ष्य है, युक्त और अयुक्त् से रहित जो दक्ष है, केवल उस निरंजन आत्म*

तत्व में मग्न अवधूत वाद-विवाद कैसे करे।

व्याख्या—जो जीवन मुक्त ज्ञानी आत्मतत्व की अनुभूति कर चुका है उसके लिए साधना व्यर्थ हो जाती है, वह लक्ष्य एवं अलक्ष्य से रहित हो जाता है। उसका एक ही लक्ष्य हो जाता है—ब्रह्मानन्द में मग्न रहना। वह युक्त अयुक्त में भी दक्ष है क्योंकि न वह किसी से संयुक्त होता है, न किसी को छोड़ता ही है। वह निरन्तर उस निर्दोष आत्मतत्व में ही लीन रहता है। वह फिर वाद-विवाद कैसे करे। वाद-विवाद केवल अज्ञानी ही करते हैं जिनको कुछ जानना होता है। जान लेने के बाद वाद-विवाद सम्भव ही नहीं है। वह उस परमानन्द में ही लीन रहता है।

आशापाशविबन्धनमुक्ताः,
शौचाचार विवर्जित युक्ताः।
एवं सर्व विवर्जित सन्त-
स्तत्त्वं शुद्धनिरंजनवन्तः॥३॥

अनुवाद— *आशा रूपी पाश के बन्धन से मुक्त है, बाहर के शौच आचार से रहित आत्मा से युक्त सन्त सभी प्रकार के तत्वों से रहित शुद्ध एवं निर्दोष है।*

व्याख्या—जीवन मुक्त अवधूत सभी आशा रूपी पाशों के बन्धन से मुक्त हो जाता है, वह बाहर के शौच आदि आचारों से भी रहित हो जाता है। शौच, अशौच के विचार ही उसमें उत्पन्न नहीं होते। वह सभी प्रकार के तत्वों से रहित होकर केवल आत्मा से युक्त रहता है जो शुद्ध एवं दोष रहित है।

कथमिह देहविदेह विचारः,
कथमिह रागविराग विचारः।
निर्मलनिश्चल गगनाकारं,
स्वयमिह तत्त्वं सहजाकारम्॥४॥

अनुवाद— जीवन्मुक्त ज्ञानी में देह और विदेह का विचार किस प्रकार हो सकता है, उसमें राग एवं विराग का विचार भी कैसे हो सकता है। वह स्वयं ही स्वभाव से ही आत्म तत्व है जो निर्मल, निश्चल एवं आकाश के समान व्यापक है।

व्याख्या—जीवन मुक्त ज्ञानी केवल आत्मा में ही लीन रहता है। वह आत्मा को ही अपना स्वरूप समझता है। उसमें यह विचार ही पैदा नहीं होते कि मैं देह वाला हूँ अथवा विदेह (देह रहित) हूँ क्योंकि वह देह से परे आत्मा है जो देह रहित है। जब देह है ही नहीं तो उसे विदेह (देह रहित) कैसे कहा जा सकता है। राग एवं विराग मन के ही धर्म हैं। जीवन मुक्त ज्ञानी मन से पार आत्मा में लीन रहता है इसलिए राग एवं विराग के विचार उसमें उत्पन्न ही नहीं होते। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं स्वयं वही आत्मतत्व हूँ जो मेरा स्वभाव है इसलिए मैं निर्मल, निश्चय एवं आकाश तुल्य व्यापक हूँ।

कथमिह तत्त्वं विन्दति यत्र,
रूपमरूपं कथमिह तत्र।
गगनाकारः परमो यत्र,
विषयीकरणं कथमिह तत्र॥५॥

अनुवाद— जीवन्मुक्त ज्ञानी जहाँ इस अवस्था में तत्व को किस प्रकार जान सकता है वहाँ रूप एवं अरूप को भी किस प्रकार जान सकता है क्योंकि वह जहाँ आकाश स्वरूप परमतत्व आत्मा ही है फिर वहाँ विषयों का व्यवहार भी नहीं हो सकता।

व्याख्या—जीवन मुक्त ज्ञानी विभिन्न तत्वों को नहीं जानता क्योंकि वह केवल एक आत्मा को ही सर्वत्र देखता है। उसे आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं दिखाई देता। वह सृष्टि के विभिन्न रूप एवं अरूपों को भी नहीं देखता बल्कि सभी रूपों में उसे एक आत्मा ही दिखाई देती है। यह आत्मा आकाश तुल्य व्यापक एक ही परमतत्व है उसी में वह लीन

रहता है जहाँ सभी विषयों का अभाव है। विषयों के प्रति आकर्षण मन की वासना के कारण होता है। जीवन मुक्त वासना से रहित हो जाता है जिससे उसका यह आकर्षण ही समाप्त हो जाता है।

गगनाकार निरन्तर हंस-
स्तत्त्वविशुद्ध निरंजन हंसः।
एवं कथमिह भिन्न विभिन्नं,
बन्धविबन्ध विकार विभिन्नम्॥६॥

अनुवाद— *यह आत्मतत्व आकाश तुल्य व्यापक, नित्य, विशुद्ध, निर्दोष एवं हंस तुल्य है। यह एक ही है इसलिए इसमें भिन्नता एवं समानता का कथन कैसे हो सकता है। इसमें बन्धन, बन्धन रहित एवं विकार का भेद भी नहीं हो सकता।*

व्याख्या—यह आत्मतत्व चूँकि सर्वत्र व्यापक एक ही है इसलिए इसमें भिन्नता, समानता, बन्धन, बन्धन रहित, विकार आदि का भेद नहीं हो सकता क्योंकि यह एक ही नित्य, विशुद्ध, निर्दोष एवं हंस तुल्य है।

केवल तत्त्व निरन्तर सर्व,
योगवियोगो कथमिह गर्वम्।
एवं परम निरन्तर सर्व,
मेवं कथमिह सारविसारम्॥७॥

अनुवाद— *केवल आत्मतत्व ही नित्य एवं सर्व है, इसमें अहंकारवश योग और वियोग का कथन किस प्रकार हो सकता है तथा यह आत्मा परम, नित्य एवं सर्व है तो इसमें सार एवं असार भी कैसे हो सकता है।*

व्याख्या—यह आत्मतत्व एक ही है, नित्य एवं सर्व है फिर इसमें योग और वियोग कैसे हो सकता है। जब दूसरा कोई तत्व है ही नहीं

फिर किससे योग और वियोग हो। अहंकारवश ही जो आत्मा को अपने से भिन्न मानता है, वही योग और वियोग का विचार करता है। यह आत्मा चूँकि एक ही श्रेष्ठ तत्व है जो नित्य एवं सर्वरूप है फिर उसे सार एवं असार का कथन भी कैसे हो सकता है।

केवल तत्त्व निरंजन सर्व,
गगनाकार निरन्तर शुद्धम्।
एवं कथमिह संग विसंगं,
सत्यं कथमिह रंग विरंगं॥८॥

अनुवाद— *केवल यह आत्मा ही निर्दोष, सर्वरूप, आकाश, तुल्य व्यापक, नित्य एवं शुद्ध है इसलिए इसमें संग और विसंग कैसे हो सकता है। इसमें सत्य, रंग और विरंग कैसे हो सकता है।*

व्याख्या—यह आत्मतत्व एक ही, सर्वदोषों से रहित, सर्वरूप, आकाश तुल्य व्यापक, नित्य एवं शुद्ध है। इसमें किसी प्रकार का द्वैत नहीं है फिर इसमें संग एवं असंग, सत्य, रंग, विरंग आदि किस प्रकार हो सकता है। ये सब भिन्नताएँ द्वैत में ही सम्भव हैं, अद्वैत में नहीं।

योगवियोगै रहितो योगी,
भोगवियोगै रहितो भोगी।
एवं चरति हि मन्दंमन्दं,
मनसा कल्पित सहजानन्दम्॥९॥

अनुवाद— *आत्मज्ञानी योगी योग एवं वैराग्य से रहित हो जाता है, भोगी होकर भी भोग और त्याग से रहित हो जाता है। वह अपने मन द्वारा कल्पित स्वाभाविक आनन्द में मन्द-मन्द गति से (अपनी ही मस्ती में) विचरण करता है।*

व्याख्या—आत्मज्ञान के लिए अज्ञानी योग साधना करते हैं, संसार के प्रति वैराग्य धारण करते हैं, कई भोगों में लिप्त रहते हैं तो कई भोगों

का त्याग कर देते हैं किन्तु जो आत्मज्ञान को प्राप्त हो गया है वह इन सबसे रहित हो जाता है। फिर उसके लिए इनका कोई महत्व नहीं रहा। वह इन क्षुद्र भोगों का त्याग करके उस महान परमानन्द का भोग करता है तथा मन की कल्पना के ही द्वारा वह सहज एवं स्वाभाविक आत्मानन्द में मन्द-मन्द गति से विचरण करता है। भाव यह है कि शुद्ध मन क्षुद्र वासनाओं का त्याग कर परमानन्द का भोग करता है।

बोधविबोधैः सततं युक्तो,
द्वैताद्वैतेः कथमिह मुक्तः।
सहजो विरजाः कथमिह योगी,
शुद्ध निरंजन समरस भोगी॥१०॥

अनुवाद—*जो व्यक्ति ज्ञान एवं अज्ञान से निरन्तर युक्त है, तथा जो द्वैत और अद्वैत से भी युक्त है वह कैसे मुक्त हो सकता है। इस संसार में योगी सहज ही राग रहित किस प्रकार हो सकता है। आत्मानन्द का भोक्ता ही शुद्ध, निर्दोष एवं समरस होता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जो व्यक्ति ज्ञान एवं अज्ञान से मुक्त है तथा जो द्वैत और अद्वैत से युक्त है उसे मुक्त कैसे कहा जा सकता है क्योंकि वह द्वैत भाव वाला है। फिर बिना आत्मज्ञान के कोई भी योगी सहज रूप से राग रहित किस प्रकार हो सकता है। वास्तव में योगी वही है जिसको आत्मबोध हो गया है तथा सभी प्रकार के द्वैत से रहित होकर शुद्ध, निर्दोष एवं समरस आत्मानन्द में लीन रहता है (उसी का भोग करता है।)

भग्नाभग्न विवर्जित भग्नो,
लग्नालग्न विवर्जित लग्नः।
एवं कथमिह सारविसारः,
समरस तत्त्वं गगनाकारः॥११॥

अनुवाद— यह आत्मा समरस तत्व एवं आकाश तुल्य व्यापक है जो खण्ड-अखण्ड एवं खण्ड से रहित है, यह किसी में लगा हुआ, नहीं लगा हुआ एवं लगे हुए से रहित है। इसे सार एवं असार भी किस प्रकार कहा जा सकता है।

व्याख्या—यह आत्मा एक ही है जो समरस एवं आकाश तुल्य सर्वत्र व्यापक है। इसे खण्ड-खण्ड में विभाजित नहीं किया जा सकता न इसे अखण्ड एवं खण्ड रहित ही कहा जा सकता है क्योंकि सभी खण्ड एवं विभाग इसी के विभिन्न रूप मात्र हैं। इसे किसी में लिप्त, अलिप्त एवं लिप्तरहित भी नहीं कहा जा सकता कोई इससे भिन्न दूसरा है ही नहीं जिससे वह लिप्त हो। इसे न सार रूप कहा जा सकता है, न असार रूप क्योंकि इसमें दो हैं ही नहीं। एक ही तत्व में इन सबका कथन नहीं हो सकता।

सततं सर्व विवर्जित युक्तः,
सर्व तत्व विवर्जित मुक्तः।
एवं कथमिह जीवितमरणं,
ध्यानाध्यानैः कथमिह करणम्॥१२॥

अनुवाद— योगी निरन्तर उस सर्व रहित आत्मा से मुक्त रहता है तथा सम्पूर्ण तत्वों से रहित होकर मुक्त रहता है। इस प्रकार उसका जीना और मरना किस प्रकार होता है। फिर उसका ध्यान करना और न करना कैसे हो सकता है।

व्याख्या—योगी संसार की सम्पूर्ण क्रियाओं से मुक्त होकर उस सर्व रहित एक ही आत्मा के साथ सतत युक्त रहता है। उससे कभी अलग नहीं होता। वह सम्पूर्ण प्रकृति तत्वों से रहित होकर मुक्त रहता है। ऐसा आत्म स्वरूप होने से उसका जीवन एवं मरण शरीर मात्र का होता है, आत्मा का नहीं। योगी आत्म स्वरूप हो जोता है इसलिए उसके लिए ध्यान करने एवं न करने का कोई प्रयोजन नहीं रहता।

इन्द्रजालमिदं सर्वं यथा मरु मरीचिका।
अखंडितघनाकारो वर्तते केवलं शिवः ॥१३॥

अनुवाद— *यह सम्पूर्ण जगत इन्द्रजाल के समान है अथवा मरुस्थल की मरीचिका के समान है। इनमें केवल घनाकार के रूप में अखण्डित कल्याण स्वरूप आत्मा ही वर्तता है।*

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जगत इन्द्रजाल के समान भ्रान्तिपूर्ण है जो सत्य दिखाई देता है किन्तु है मिथ्या। यह मरुस्थल में सूर्य के प्रकाश के कारण दिखाई देने वाली मरीचिका के समान है जहाँ दूर से पानी दिखाई देता है किन्तु पास जाने पर मिलता नहीं। इसी प्रकार संसार के भोग पदार्थों से किसी की तृप्ति नहीं होती तथा वह सुख की चाह में जीवन भर भटकता ही रहता है किन्तु मिलता कुछ नहीं है। इस संसार में केवल वह कल्याण स्वरूप आत्मा ही अखण्ड रूप से आकाश तुल्य सर्वत्र व्याप्त है जो सत्य है। अन्य सभी भ्रान्ति मात्र है।

धर्मादौ मोक्षपर्यन्तं निरीहः सर्वथा वयम्।
कथं रागाविरागैश्च कल्पयन्ति विपश्चित॥१४॥

अनुवाद— *हम धर्म आदि के लेकर मोक्ष पर्यन्त इच्छा रहित हैं फिर पण्डित लोग किस प्रकार हमारे में राग और विराग की कल्पना करते हैं।*

व्याख्या—आत्मज्ञानी धर्म से लेकर मोक्ष पर्यन्त सभी प्रकार की इच्छाओं से रहित होता है। उसे मोक्ष की भी इच्छा नहीं होती फिर अज्ञानी पण्डित लोग उसमें किस प्रकार राग एवं विराग की कल्पना करते हैं अर्थात उनका दोनों प्रकार का कथन मिथ्या है।

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र,
छन्दो लक्षणं नहि नहि तत्र।
समरसमग्नो भापितपूतः,
प्रजपति तत्त्वं परमवधूतः॥१५॥

अनुवाद— *परम अवधूत (श्रेष्ठ ज्ञानी) जिसका अन्तःकरण पवित्र है उस एकरस आत्मा में ही मग्न रहता है तथा उस आत्मतत्व का ही कथन करता है। जिसमें छन्द और लक्षण नहीं हैं उसी आत्मा को प्राप्त होता है।*

व्याख्या—वेद उपनिषद आदि शास्त्रों में छन्द एवं उनके लक्षण हैं जिनको जानने वाला ज्ञानी पंडित ही हो सकता है, ज्ञानी नहीं होता किन्तु श्रेष्ठ ज्ञानी (अवधूत) इन छन्द एवं लक्षणों में नहीं रमता आत्मा छन्द एवं लक्षणों से नहीं जानी जाती। उसे जानकर ज्ञानी जिसका अन्तःकरण पवित्र हो गया है वह उस एकरस आत्मा में ही मग्न रहता है तथा इसी का कथन करता है। अन्य किसी शास्त्रों के छन्द एवं लक्षण का कथन नहीं करता, न उसकी व्याख्या ही करता है कि शास्त्रों में क्या लिखा है, वेद, पुराण, उपनिषद में क्या लिखा है, गीता क्या कहती है आदि। उसने जब सारभूत तत्व को जान लिया, उसे प्रत्यक्ष कर लिया फिर शास्त्रों का उसके लिए कोई प्रयोजन ही नहीं रहा। सभी शास्त्र अज्ञानियों के लिए हैं। ज्ञानी स्वयं शास्त्र है।

॥ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥

आठवाँ अध्याय

श्री दत्त उवाच

त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते,
ध्यानेन चेतः परता हता ते।
स्तुत्या मया वाक्परता हता ते,
क्षमस्व नित्यं त्रिविधा पराधान्॥१॥

अनुवाद—*तुम्हारी यात्रा से व्यापकता नष्ट हुई, तुम्हारे ध्यान से चित्त की विषयपरता नष्ट हुई, तुम्हारी स्तुति से मेरी वाणी की विषयपरता नष्ट हुई अब मैं नित्य तीन प्रकार के अपराधों से क्षमा माँगता हूँ।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपनी आत्मा से कहते हैं कि तुम्हारी यात्रा से अर्थात आत्मतत्व का चिंतन करने से मेरे चित्त की विषयों की ओर भागने की व्यापकता नष्ट हुई, तुम्हारे ध्यान से विषयों को देखने की भावना नष्ट हुई, तुम्हारी स्तुति से मेरी वाणी के दोष नष्ट हुए। अब मैं हमेशा ही शरीर, वाणी और मन द्वारा किये गए तीनों प्रकार के अपराधों से क्षमा माँगता हूँ। मैं इन तीनों से अब नित्य ही मुक्त हो गया हूँ।

कामैरहत धीर्दान्तो मृदुः शुचिराकिंचनः।
अनीतो मितुमुक्छान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥२॥

अनुवाद—*जिसकी बुद्धि कामना रहित है (निष्काम है), जिसने बाह्य इन्द्रियों को वश में कर लिया है, जो कोमल स्वभाव वाला है,*

पवित्र रहता हो, थोड़े में गुजारा करता हो, इच्छा रहित हो, थोड़ा भोजन करता हो, शान्त हो, स्थिर बुद्धि वाला हो तथा आत्मा की शरण हो वही मुनि है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मज्ञानी पुरुष के निम्न लक्षण हैं कि वह सांसारिक समस्त कामनाओं से रहित हो, जिसकी इन्द्रियाँ भोगों की ओर न दौड़ें, जिसका स्वभाव कोमल हो, क्रोध, हिंसा, कटु वचन से रहित हो, मन, वचन, कर्म से पवित्र हो, वस्तुओं का संग्रह न कर थोड़े में गुजारा करता हो, किसी भी प्रकार की इच्छा जिसके मन में न रहे, थोड़ा भोजन करता हो, उत्तेजित न हो, जिसकी बुद्धि स्थिर हो तथा सांसारिकता से अलग होकर केवल आत्मा की ही शरण में विश्राम पाता हो वही आत्मज्ञानी मुनि है।

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमांजितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥३॥

अनुवाद— *जो प्रमाद से रहित, गम्भीर स्वभाव वाला, धैर्य युक्त, छः विकारों को जिसने जीत लिया है, अभिमान रहित, दूसरों को मान देने वाला, मित्रतापूर्वक व्यवहार करने वाला, करुणावान, दयाशील है वही आत्मज्ञानी है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद व्यक्ति में व्यवहारगत परिवर्तन आ जाता है। वह संसार की सभी प्रकार की विकृतियों को छोड़कर उपरोक्त सभी गुणों को धारण कर लेता है। ऐसा व्यक्ति ही आत्मज्ञानी होता है।

कृपालुकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यासारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥४॥

अनुवाद— *जो सम्पूर्ण देहधारियों के प्रति कृपालु, द्रोह न करने वाला, सहनशील, सत्य का सार, जन्म-मरण से रहित, सम*

तथा सबका उपकार करने वाला है वही आत्मज्ञानी है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी इसमें आत्मज्ञानी के लक्षण बताते हुए कहते हैं कि उपरोक्त गुणों वाला व्यक्ति ही आत्मज्ञानी होता है।

अवधूतलक्षणं वर्णैर्ज्ञातव्यं भगवत्तमैः।
वेदवर्णार्थतत्त्वज्ञैर्वेदवेदान्तवादिभिः ॥५॥

अनुवाद— *अवधूत (जीवन्मुक्त ज्ञानी) के ये लक्षण सभी वर्ण वालों को, भक्तों को, वेद वर्ण के तत्वज्ञ पण्डितों को, वेद-वेदान्त के ज्ञाता को जानना चाहिए।*

व्याख्या—आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद व्यक्ति का पूर्ण रूपान्तरण हो जाता है तथा उसमें पूर्व में बताए गए अपेक्षित गुण आ जाते हैं। ये गुण सभी ज्ञानियों में समान रूप से पाये जाते हैं चाहे कोई किसी भी वर्ण वाला रहा हो, भक्त हो, वेदों और वर्णों के तत्वों को जानने वाला तत्वज्ञ पंडित हो, अथवा वेद एवं वेदान्त का ज्ञाता हो। भाव यह है कि कोई किसी भी मार्ग से चले उसका अन्तिम फल एक ही होता है कि उस ज्ञानी में उपरोक्त गुणों का विकास हो जाता है जो आत्मज्ञानी के लक्षण हैं। जब तक ये गुण उसमें नहीं आते तब तक उसे ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। शास्त्रों का ज्ञाता हो जाने से कोई ज्ञानी नहीं हो जाता।

आशापाशविनिर्मुक्त आदिमध्यान्त निर्मलः।
आनन्दे वर्तते नित्यमकारं तस्य लक्षणम्॥६॥

अनुवाद— *अवधूत शब्द चार अक्षरों से मिलकर बना है— अ+व+धू+त। इसमें दत्तात्रेय जी अकार (अ) का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जो 'आशा' रूपी पाश से मुक्त है, 'आदि' मध्य और अन्त से निर्मल है, 'आनन्द' में ही नित्य मग्न रहता है ये तीनों अकार (अ) की अवधूत के लक्षण हैं।*

व्याख्या—दत्तत्रेय जी अवधूत शब्द में 'अ' का लक्षण बताते हुए

कहते हैं कि अवधूत ''आशा'' रहित, ''आदि'' से निर्मल तथा ''आनन्द'' में मगन रहता है। 'अ' का यही अर्थ है।

वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम्।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारं तस्य लक्षणम्॥७॥

अनुवाद*— इसमें अ+व+धू+त शब्द मैं 'व' अक्षर का लक्षण बताते हुए दत्तात्रेय जी कहते हैं कि 'वासना' का जिसने त्याग कर दिया है और 'वक्तव्य' जिसका राग-रहित है, जो 'वर्तमान' में ही रहता है। 'व' (वकार) ही अवधूत के लक्षण हैं।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अ+व+धू+त शब्द में 'व' अक्षर का अर्थ बताते हुए कहते हैं कि ''वासना'' का जिसने त्याग कर दिया है, ''वक्तव्य'' जिसका दोष रहित है तथा जो ''वर्तमान'' में ही रहता है जिसने भूत एवं भविष्य की चिन्ताएँ छोड़ दी हैं ये तीनों वकार 'व' ही अवधूत के लक्षण हैं।

धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तो निरामयः।
धारणाध्याननिर्मुक्तो धूकार स्तस्य लक्षणम्॥८॥

अनुवाद*— दत्तात्रेय जी इसमें अ+व+धू+त शब्द में 'धू' अक्षर का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि 'धूलिधूसर' जिसके अंग हैं, 'धूत चित्त' (पापों से धोया गया चित्त) जिसका है, रोग रहित है, 'धारणा ध्यान' से जो मुक्त हो गया है ये तीन 'धूकार' ही अवधूत के लक्षण हैं।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी इसमें ''अवधूत'' शब्द के 'धू' अक्षर की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ये तीन 'धू' अवधूत के लक्षण हैं— ''धूलि धूसर'' जिसके अंग हैं अर्थात जो विलासिता एवं शृंगार से रहित है जो 'धूत-चित्त' है तथा जो ''धारणा, ध्यान'' आदि क्रियाओं से मुक्त है ये तीनों ''धकार'' अवधूत के तीन लक्षण हैं।

तत्त्वचिन्ता धृतायेन चिंताचेष्टा विवर्जितः।
तमोऽहंकार निर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम्॥९॥

अनुवाद— *दत्तात्रेय जी इसमें अ+व+धू+त शब्द में तकार (त) का अर्थ बताते हुए कहते हैं कि जिसने 'तत्व चिन्ता' को ही धारण किया है, जो 'चिन्ता और चेष्टा' से रहित है, 'तम रूपी अहंकार' से जो रहित है ये तीनों 'तकार' अवधूत के लक्षण हैं।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी ''अवधूत'' शब्द में ''तकार'' 'त' का अर्थ बताते हुए कहते हैं कि जिसने ''तत्व-चिन्ता'' को ही धारण कर रखा है, अन्य किसी की चिन्ता नहीं करता, जो सांसारिक ''चिन्ता एवं चेष्टा'' से रहित है, तथा जिसने ''तम'' रूपी अहंकार को त्याग दिया है ये तीनों ''तकार'' अवधूत के तीन लक्षण हैं।

आत्मानं चामृतं हित्वा अभिन्नं मोक्षमव्ययम्।
गतो हि कुत्सितः काको वर्तते नरकं प्रति॥१०॥

अनुवाद— *जो आत्मा अमृत रूप, अभिन्न, मोक्ष स्वरूप और भेद रहित है उसे त्याग कर कुत्सित पुरुष नरक की ओर ही दौड़ता है।*

व्याख्या—कुत्सित अर्थात अज्ञानी पुरुष बार-बार नरक की ओर इसलिए भागता है कि उसने आत्मज्ञान का लाभ नहीं लिया। वह आत्मा ही अमृत स्वरूप है। आत्मज्ञानी ही इसे प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी होता है। जिसने इस आत्मा को नहीं जाना वह बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर नरक की यातना ही भोगता है।

मनसा कर्मणा वाचा त्यज्यतां मृगलोचना।
न ते स्वर्गोऽपवर्गो वा सानन्दं हृदयं यदि॥११॥

अनुवाद— *मृगलोचन वाली स्त्री का मन, कर्म एवं वाणी से त्याग कर देना चाहिए। यदि नहीं तो मुझे स्वर्ग, मोक्ष अथवा आनन्द*

की प्राप्ति हृदय में नही होगी।

व्याख्या—संसार में कई प्रकार की वासनाएँ हैं जिनमें स्त्री की वासना सर्वाधिक तीव्र है जिस पर नियन्त्रण करना कठिन है। इसी वासना के शुद्र आनन्द में लिप्त होकर ही मनुष्य के दुःखों का विस्तार होता जाता है। परिवार, धन-सम्पत्ति, राग-द्वेष, मोह, ममता आदि का इतना विस्तार एक इसी वासना के कारण होता है जिसमें मनुष्य इतना उलझ जाता है कि वह आत्मा को ही भूल जाता है। इसलिए दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यदि तुम्हें आत्मज्ञान प्राप्त करना हो, मोक्ष एवं स्वर्ग सुख भोगना हो, यदि उस परमानन्द ब्रह्म को हृदय में प्राप्त करना हो तो सर्वप्रथम मन, वाणी एवं कर्म से स्त्री की वासना का त्याग कर दो। यदि नहीं करोगे तो तुम्हें ये सुख कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते। स्त्री के क्षुद्र सुख के त्याग के बिना यह शाश्वत सुख तुम्हें कभी नहीं मिल सकेगा।

न जानामि कथं तेन निर्मिता मृगलोचना।
विश्वासघातकीं विद्धि स्वर्गमोक्षमुखार्गलाम्॥१२॥

अनुवाद— *उस ब्रह्मा ने मृग के समान आँखों वाली स्त्री की रचना क्यों की, यह मैं नहीं जानता। इसे तू विश्वासघात करने वाली जान जो स्वर्ग और मोक्ष सुख में विघ्न स्वरूप है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा ने स्त्री की रचना क्यों की, इसका क्या प्रयोजन था यह मैं नहीं जानता किन्तु तू उसे विश्वासघात करने वाली जान, क्योंकि वह मनुष्य को अपने वासना जाल में लिप्त कर उसे स्वर्ग एवं मोक्ष के सुख से वंचित कर देती है। स्त्री सुख के त्याग के बिना मोक्ष प्राप्ति असम्भव है।

मूत्रशोषितदुर्गन्धे ह्यमेध्यद्वारदूषिते।
चर्मकुण्डे ये रमन्ति ते लिप्यन्ते न संशयः॥१३॥

अनुवाद— *स्त्री का चर्म कुण्ड (योनि) मूत्र और रक्त की*

दुर्गन्ध वाला, मल के द्वार से दूषित है। जो इस योनि भोग में रमण करते हैं वे ही इस दुःखमय संसार में लिप्त होते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है।

व्याख्या—स्त्री सुख में लिप्त अन्धे को कुछ भी दिखाई नहीं देता। वह सदा इसी को सुख मानकर दिन-रात इसी में लिप्त रहता है जिससे उसको इस दुःखमय संसार से छुटकारा नहीं मिल सकता। गन्दगी में ही आनन्द लेने वाला कभी उत्तम आनन्द का भोग नहीं कर सकता।

कौटिल्यदम्भ संयुक्ता सत्य शौच विवर्जिता।
केनापि निर्मिता नारी बन्धनं सर्वदेहिनाम्॥१४॥

अनुवाद— *कुटिलता और दम्भ से युक्त तथा सत्य और पवित्रता से रहित नारी को किसने रचा है जो सम्पूर्ण जीवों के बन्धन का कारण है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि ऐसी नारी की रचना किसने की जो कुटिलता एवं दम्भ से युक्त है, अपनी कुटिल चालों से मनुष्य को अपने वश में करके उसे सत्य मार्ग से भटका देती है। उसने कई ऋषि-मुनियों को भी भटका कर मार्ग भ्रष्ट कर दिया, कईयों की तपस्याएँ भंग कर दीं। ऐसी नारी जो सत्य एवं पवित्रता से रहित है, मनुष्य को सत्य मार्ग से भटका कर केवल उसे सम्भोग रस ही प्रदान कर उसे नीचे गिरा देती है। उसकी वासना में फँसकर व्यक्ति जन्मों-जन्मों तक जन्म-मरण के चक्कर में घूमता रहता है तथा कभी मुक्त नहीं हो सकता। यही सभी जीवों के बन्धन का कारण है। स्त्री से मुक्त हुए बिना मुक्ति सम्भव ही नहीं है।

त्रैलोक्यजननी धात्री सा भगी नरकं ध्रुवम्।
तस्यां जातो रतस्तत्र हाहा संसारसंस्थितिः॥१५॥

अनुवाद— *तीनों लोकों को उत्पन्न करने वाली स्त्री भग सहित निश्चय ही नरक है। संसार की यह कैसी स्थिति है कि उसी स्त्री में उत्पन्न हुआ पुरुष उसी को फिर भोगता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि जिस स्त्री से तीनों लोक उत्पन्न हुए हैं वह उसकी माता समान है। संसार की कैसी विचित्र स्थिति है कि जिससे उत्पन्न हुआ है उसी स्त्री का भग सहित पुनः भोग करता है क्या यह निश्चित ही नरक तुल्य नहीं है।

जानामि नरकं नारी ध्रुवं जानामि बन्धनम्।
यस्यां जातो रतस्तत्र पुनस्तत्रैव धावति॥१६॥

अनुवाद— *मैं नारी को नरक रूप जानता हूँ, निश्चय ही वह बन्धन का कारण है यह भी जानता हूँ। मनुष्य जिससे उत्पन्न होता है उसी में फिर रत होता है व बार-बार उसी ओर दौड़ता है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैं जानता हूँ कि नारी साक्षात् नरक एवं बन्धन का कारण है। वह अपनी कामवासना के द्वारा मनुष्य को ऐसा आकर्षित करती है कि मनुष्य आजीवन उससे मुक्त नहीं हो सकता। किन्तु मनुष्य उसी से उत्पन्न होकर फिर उसी का भोग करता है तथा बार-बार उसी के पीछे दौड़ता है, यह कैसा अज्ञान है।

भगादि कुचपर्यन्तं संविद्धि नरकार्णवम्।
ये रमन्ति पुनस्तत्र तरन्ति नरकं कथम्॥१७॥

अनुवाद— *स्त्री योनि से लेकर स्तन पर्यन्त नरक का समुद्र है ऐसा तू ठीक प्रकार से जान ले। जो उसमें उत्पन्न होकर फिर उसी में रमण करते हैं वे नरक से किस प्रकार तर सकते हैं।*

व्याख्या—स्त्री योनि से लेकर स्तनों तक पूरी की पूरी नरक का समुद्र है यह तू जान ले। जो इसमें से निकलकर फिर इसी में रमण करते हैं उनका नरक से कभी उद्धार नहीं हो सकता।

विष्ठादि नरकं घोरं भगं च पारीनिर्मितम्।
किमु पश्यसि रे चित्त कथं तत्रैव धावसि॥१८॥

अनुवाद— स्त्री की योनि विष्ठा आदि से युक्त घोर नरक रचित है। हे चित्त! फिर तू उसमें क्या देखता है और किस प्रकार उसी की तरफ दौड़ता है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी अपने ही चित्त को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे चित्त! स्त्री की योनि विष्ठा आदि से भरी अत्यन्त घृणित है जो घोर नरक है। तू उसमें क्या देखकर आकर्षित होता है व बार-बार उसकी ओर क्यों दौड़ता है।

भगेन चर्मकुण्डेन दुर्गन्धेन व्रणेन च।
खण्डितं हि जगत्सर्वं सदेवासुर मानुषम्॥१९॥

अनुवाद— स्त्री की योनि एक चर्म कुण्ड है जो एक दुर्गन्ध युक्त घाव के समान है। उसी में देवता, असुर और मनुष्य सहित समस्त जगत नाश को प्राप्त हो रहा है।

व्याख्या—यद्यपि स्त्री की योनि एक ऐसा दुर्गन्ध युक्त घाव के समान चर्म कुण्ड है जिसके कारण समस्त देवता, असुर एवं मनुष्य सहित समस्त जगत नाश को प्राप्त हो रहा है। इस आकर्षण के कारण कोई भी मुक्त नहीं हो पा रहा है। अतः यह कितना विनाशकारी है अज्ञानी पुरुष इसे नहीं जानते।

देहार्णवे महाघोरे पूरितम् चैव शोषितम्।
केनापि निर्मिता नारी भगं चैव अधोमुखम्॥२०॥

अनुवाद— स्त्री के शरीर रूपी महान नरक रूपी समुद्र में निश्चय ही रुधिर भरा हुआ है। फिर भी किसने नारी की रचना की है उसने योनि को अधोमुख किया है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि स्त्री का सम्पूर्ण शरीर रुधिर से भरा हुआ घोर नरक रूपी समुद्र है तथा ऐसी नारी की किसने रचना की है कि उसकी योनि का मुख नीचे की ओर रखा है। भाव यह है कि जो इस योनि का भोग करता है उसका पतन ही होता है क्योंकि वह अधोमुखी होने से मनुष्य को अधोमुखी ही बनाती है। उसकी कभी ऊर्ध्वगति नहीं हो सकती।

अन्तरे नरकं विद्धि कौटिल्यं बाह्यमण्डितम्।
ललितामिह पश्यन्ति महामन्त्रविराधिनीम्॥२१॥

अनुवाद— *इस संसार में स्त्री भीतर से नरक एवं कुटिलता से भरी हुई है तथा बाहर से सुन्दर दिखाई देती है। यह महामन्त्र (ब्रह्मज्ञान) की विरोधी है ऐसा तू जान।*

व्याख्या—स्त्री भीतर से मल-मूत्र आदि दुर्गन्ध युक्त पदार्थों से भरी हुई साक्षात नरक है तथा कुटिलता से भरी है जो मनुष्य को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में बाधा स्वरूप है। वह मनुष्य को भोग में लिप्त कर आत्म-ज्ञान के मार्ग से भटकाती है। बाहर से सुन्दर दिखाई देने के कारण मनुष्य उसकी ओर आकर्षित होकर आत्मज्ञान के मार्ग से भटक जाता है। ब्रह्मज्ञान ही महामन्त्र है जिसकी वह विरोधिनी है। इसलिए ऐसा जानकर आत्मज्ञान के इच्छुक व्यक्ति को उसका संग छोड़ देना चाहिए।

अज्ञात्वा जीवितं लब्धं भवस्तत्रैव देहिनाम्।
अहो जातो रतस्तत्र अहो भवविडम्बना॥२२॥

अनुवाद— *आत्मा को न जानकर (अज्ञानवश) ही मनुष्यों ने उसी स्त्री से जन्म लिया एवं जीवन लाभ किया। किन्तु खेद है कि इस अज्ञान को दूर न कर फिर उसी स्त्री में रत रहता है जिससे जन्म हुआ है, यह कैसी संसार की विडम्बना है।*

व्याख्या—आत्मज्ञान के अभाव में ही मनुष्य का बार-बार जन्म

होता है। आत्मज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। दत्तात्रेय जी कहते हैं कि पूर्वजन्म में आत्मज्ञान न होने से ही फिर इस संसार में मनुष्यों का जन्म उसी स्त्री से हुआ है जिससे इस संसार का दुःख उसे भोगना पड़ रहा है। वर्तमान मनुष्य जीवन पूर्व जन्म के अज्ञान का ही फल है। इसे न जानकर मनुष्य पैदा होकर फिर आत्मज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा न कर फिर उसी स्त्री के साथ रमण कर इस संसार में पुनः आने की चेष्टा कर रहा है। यह संसार की कैसी विडम्बना है। भाव यह है कि पूर्व जन्म में जिस गलती के कारण यह जन्म धारण करना पड़ा है उसे दूर कर स्त्री का त्याग कर मनुष्य को आत्मज्ञान की ही चेष्टा करनी चाहिए जिससे वह इस संसार सागर से मुक्त हो सके।

तत्र मुग्धा रमन्ते च सदेवासुरमानवाः।
ते यान्ति नरकं घोरं सत्यमेव न संशयः॥२३॥

अनुवाद— *देवता, असुर और मनुष्य उस स्त्री में मुग्ध होकर रमण करते हैं वे घोर नरक को जाते हैं यह सत्य है। इसमें कोई संशय नहीं है।*

व्याख्या—आत्मज्ञान न होने से ही मनुष्य को स्त्री के गर्भ में फिर जन्म लेना पड़ा। किन्तु ये देवता, असुर और मनुष्य इस मनुष्य जीवन का लाभ उठाकर मुक्ति की बात न सोचकर फिर स्त्री पर मुग्ध होकर उसके साथ रमण करते हैं जिससे वे घोर नरक में ही जाते हैं उनकी मुक्ति कभी भी सम्भव नहीं है। मुक्ति के लिए आत्मज्ञान होना ही एक मात्र मार्ग है जिसमें स्त्री सुख एक बाधा है। इस कारण आत्मज्ञान के लिए स्त्री रमण एवं उसकी वासना का त्याग आवश्यक है।

अग्निमुण्डसमा नारी घृतकुम्भ समो नरः।
संसर्गेषा विलीयते तस्मातां परिवर्जयेत्॥२४॥

अनुवाद— *स्त्री अग्नि कुण्ड के समान है तथा पुरुष घी के*

घड़े के समान है। उसके सम्पर्क से यह पिघला जाता है। इस कारण उस स्त्री का त्याग कर देना चाहिए।

व्याख्या—काम वासना स्त्री एवं पुरुष दोनों के भीतर प्रकृति दत्त है, उस पर नियन्त्रण आवश्यक है जिसके बिना आत्मज्ञान की साधना सम्भव नहीं है किन्तु सभी प्रकार की वासनाएँ आलम्बन पाकर ही जाग्रत होती हैं अन्यथा वे सुप्त पड़ी रहती हैं। जिस प्रकार बीज को खाद पानी देने से ही वह वृक्ष का रूप लेता है उसी प्रकार काम वासना स्त्री का आलम्बन पाकर ही जाग्रत होती है। स्त्री अग्नि कुण्ड के समान है तथा पुरुष घृत कुम्भ के समान है जो थोड़ी सी आँच अथवा स्त्री संसर्ग एवं स्पर्श मात्र से पिघल जाता है। उसकी सुप्त वासना जाग्रत हो जाती है व रमण सुख के लिए उत्तेजित हो जाता है। देवता और असुर भी इससे नहीं बच पाये हैं। यदि स्त्री का संसर्ग ही न हो तो वह काम वासना सुप्त ही रह जाती है जिससे आत्मज्ञान की प्राप्ति में सहायता मिलती है। इसलिए दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मज्ञान ही जीवन का लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिए स्त्री संसर्ग का त्याग कर देना चाहिए।

गौड़ी पैष्टी तथा माध्वी विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
चतुर्थी स्त्री सुरा ज्ञेया यथेदं मोहितं जगत्॥ २५॥

अनुवाद—*शराब तीन प्रकार की जानी जाती है एक गौड़ी अर्थात गुड़ की, दूसरी पैष्टी अर्थात जौ की तथा तीसरी माध्वी अर्थात महुवे की किन्तु स्त्री को चौथे प्रकार की सुरा जान जिससे यह सारा जगत मोहित हो रहा है।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि तीन प्रकार की सुराएँ प्रसिद्ध हैं गुड़ की, जौ की तथा महुए की जिनको पीकर मनुष्य अपना होश-हवास खो बैठता है। उसे स्वयं का ही भान नहीं रहता कि वह कौन है तथा क्या कर रहा है। गन्दी नालियों में पड़ा रहने पर भी उसको लज्जा नहीं आती, अनर्गल बकता रहता है किन्तु यह स्त्री रूपी सुरा उससे भी

तीव्र प्रभाव डालकर मनुष्य को ऐसा बेहोश कर देती है कि उसे कुछ भी भान नहीं रहता तथा उसी के नशे में निरन्तर झूमता हुआ कई प्रकार के अनैतिक कृत्य भी कर डालता है। अन्य शराबों को तो पीने पर नशा आता है किन्तु स्त्री को देखने मात्र से ही वह होश भूल जाता है। यह सम्पूर्ण जगत इसी से मोहित होकर आत्मज्ञान के मार्ग में ही भटक गया है।

मद्यपानं महापापं नारी संग स्तथैव च।
तसमद्वयं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेन्मुनिः॥२६॥

अनुवाद— *जिस प्रकार मद्यपान महापाप है उसी प्रकार नारी का संग भी महापाप है। इसलिए दोनों का परित्याग करके मुनि आत्मतत्व में निष्ठा वाला होवे।*

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि आत्मज्ञान के साधक मुनि को आत्मज्ञान में ही निष्ठा वाला होना चाहिए। उसे अन्य किसी आकर्षण से मुक्त रहना चाहिए। मद्यपान महापाप है जिससे मनुष्य अपना होश ही भूल जाता है उसी प्रकार नारी का संग भी महापाप है जिसमें मनुष्य अपना होश भूलकर क्षणिक आनन्द में मग्न होकर शाश्वत सुख एवं शान्ति के लिए आत्मज्ञान की उपेक्षा करता है इसलिए आत्मज्ञानी मुनि को इन दोनों से ही सदा दूर रहना चाहिए।

चिंताक्रान्त धातुबद्धं शरीरं,
नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम्।
तस्माचितं सर्वतो रक्षणीयं,
स्वस्थे चित्ते बुद्धयं सम्भवन्ति॥२७॥

अनुवाद— *इस धातु से बद्ध शरीर के चिन्ताक्रान्त होने से मन भी नष्ट हो जाता है तथा मन के नष्ट होने से धातु भी नष्ट हो जाती है। इसलिए सभी प्रकार से चित्त की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि*

स्वस्थ चित्त में ही बुद्धि उत्पन्न होती है।

व्याख्या—दत्तात्रेय जी कहते हैं कि यह शरीर धातु (शुक्र) से ही बद्ध है। इसी से शरीर का रक्षण एवं पोषण होता है। शरीर में तेज, ओज, आत्मबल, साहस, वीरता आदि इसी धातु पुष्टि के कारण है। मद्यपान एवं स्त्री संग से शरीर सदा चिन्ता ग्रस्त रहता है। इस चिन्ता से मन नष्ट हो जाता है तथा धातु को नियन्त्रित करने वाला मन ही है जिसके नाश होने से धातु भी नष्ट हो जाती है क्योंकि कामवासना का नियन्त्रण मन से ही सम्भव है इसलिए सभी प्रकार से मन की रक्षा करना एवं स्वस्थ रखना आवश्यक है क्योंकि स्वस्थ चित्त में ही निर्मल बुद्धि उत्पन्न होती है। भ्रष्ट चित्त में कभी सद्बुद्धि नहीं आ सकती। इसलिए मद्यपान एवं स्त्री संग का ज्ञानियों ने निषेध किया है।

दत्तात्रेयावधूतेन निर्मितानन्द रूपिणा।
ये पठन्ति च शृण्वन्ति तेषां नैव पुनर्भवः॥२८॥

अनुवाद—*आनन्द मूर्ति दत्तात्रेय जी अवधूत ने इसका निर्माण किया है जो इसको पढ़ते हैं और सुनते हैं उनका पुनर्जन्म कभी नहीं होता।*

व्याख्या—इस अवधूत गीता की रचना आनन्दमूर्ति श्री दत्तात्रेय जी ने की है। जो इस गीता का पाठ करता है अथवा सुनता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता। पढ़ने और सुनने से जो ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होता है उसी ज्ञान से उसकी मुक्ति हो जाती है। वह समस्त सांसारिक भोग वासनाओं से विमुख केवल अपनी आत्मा को ही निज का स्वरूप समझने लग जाता है जिसका उद्देश्य इस गीता में किया गया है, ऐसा व्यक्ति ब्रह्मज्ञानी ही हो जाता है। उसका फिर जन्म-मरण नहीं होता।

यही इस गीता का सार है।

॥ आठवाँ अध्याय समाप्त॥

तप और तीर्थ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है मोक्ष की नहीं,
मोक्ष प्राप्ति के लिए इस ग्रन्थ का मनन ही एकमात्र साधन है।

योगवाशिष्ठ (महारामायण)

व्याख्याकार : **श्री नन्दलाल दशोरा**

भारतीय अध्यात्म ग्रन्थों में योगवाशिष्ठ का स्थान सर्वोपरि है। अद्वैत की धारणा को परिपुष्ट करने वाला, अध्यात्म के गूढ़ सिद्धान्तों का विवेचन करने वाला एवं भारतीय दर्शन की मान्यताओं का समस्त सार इसमें समाहित है। भारतीय चिंतन का यह प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसके मनन से समस्त भ्रान्तिपूर्ण धारणायें निर्मूल होकर सत्य स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। महर्षि वशिष्ठ ने जो ज्ञान अपने पिता ब्रह्मा से प्राप्त किया था वह उन्होंने भगवान राम को दिया जिससे वह जीवन्मुक्त होकर रहे। इसी वशिष्ठ और राम संवाद के ज्ञान का संग्रह महर्षि बाल्मीकि ने जन-कल्याण के लिए किया था।

यह ग्रन्थ केवल तात्विक विवेचन ही नहीं है अपितु मोक्ष साधना की विधि को इसमें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक पाठक इसका प्रयोग घर बैठे कर सकता है। इसमें न हठयोग जैसी कठिन क्रियायें करनी हैं, न मन्त्रजाप, न पूजा और प्रार्थना करनी है। यदि कोई साधक इसमें दी गई विधियों को पूर्णतया प्रयोग करे तो उसे मोक्ष लाभ मिल सकता है।

इस ग्रन्थ को पढ़ने के पश्चात् किसी अन्य ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि जो बातें इस ग्रन्थ में हैं वे अन्य ग्रन्थों में भी मिलेंगी, जो इसमें नहीं हैं वे कहीं न मिलेंगी। महर्षि वशिष्ठ ने अनेक उपाख्यानों के माध्यम से जो ज्ञान, भगवान राम को दिया वही योगवाशिष्ठ के नाम से विख्यात यह अमर ग्रन्थ वेदान्त का सारभूत उपदेश माना गया है जिसे अब नवीनतम शैली में श्री नन्दलाल दशोरा ने समझाने का अनथक प्रयास किया है।

प्रकाशक :

रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार-249401

महर्षि वेदव्यास प्रणीत

ब्रह्मसूत्र-वेदान्त दर्शन

व्याख्या : नन्दलाल दशोरा

भगवान श्री वेदव्यास ने इस ग्रंथ में परब्रह्म के स्वरूप का सांगोपांग निरूपण किया है, इसलिए इसका नाम ब्रह्मसूत्र है तथा वेद के सर्वोपरि सिद्धान्तों का निदर्शन कराने के कारण इसका नाम वेदान्त दर्शन भी है। चार अध्यायों और सोलह पादों में विभक्त इस पुस्तक में 'ब्रह्म' की पूर्ण व्याख्या दी गई है, जिससे जिज्ञासुओं की समस्त भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है तथा उनकी ब्रह्म में प्रतिष्ठा हो जाने पर वह परम मुक्ति का अनुभव कर सभी शोक संतापों से मुक्त होकर परमानन्द को उपलब्ध हो जाता है जो इस जीव की परम एवं अन्तिम स्थिति है, जिसे प्राप्त कर लेना ही जीव का अन्तिम उद्देश्य है।

जिस प्रकार किसी वस्तु के निर्माण में छः कारणों की आवश्यकता होती है—निमित्त कारण, उपादान कारण, काल, पुरुषार्थ, कर्म और प्रकृति। इसी प्रकार सृष्टि निर्माण में भी छः ही कारण अनिवार्य हैं। इन छः कारणों की व्याख्या ही भिन्न-भिन्न छः दर्शनों में की गई है। इनमें से निमित्त कारण 'ब्रह्म' की व्याख्या ब्रह्मसूत्र अथवा 'वेदान्त दर्शन' में की गई है।

योग साधना और उसके लाभ

लेखक : नन्दलाल दशोरा

चित्त की अनियन्त्रित वृत्तियाँ ही संसार में सभी दुःखों का कारण हैं तथा इसी से सभी प्रकार के कुकर्म, दुराचार, अनाचार, अत्याचार आदि होते हैं जिससे व्यक्ति का स्वयं का व्यक्तित्व एवं सम्पूर्ण समाज का वातावरण दूषित हो जाता है। चित्त की इन अनियन्त्रित एवं उच्छ्रंखल वृत्तियों को नियन्त्रण में लाने का कार्य योग द्वारा ही सम्भव है। इनके निरोध से एक ओर समाज में सुव्यवस्था आती है तथा दूसरी ओर व्यक्ति अपनी सुप्त शक्तियों एवं क्षमताओं का विकास कर वह आत्मा के प्रकाश से आलोकित हो उठता है। आत्मा का यही प्रकाश उसके मोक्ष का कारण बनता है।

प्रकाशक :

रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार-249401

तीन उपनिषद

(ईशावास्य, मुण्डक, श्वेताश्वतर)

मूल, अनुवाद और व्याख्या : नन्दलाल दशोरा

मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्षणिक को ही महत्व देकर शाश्वत की उपेक्षा करता रहता है। किन्तु क्षणिक सुख के पीछे कितना दुःख छिपा है इसका उसे ज्ञान नहीं है। जिस कारण इसके अवश्यम्भावी परिणामों से वह मुक्त नहीं हो सकता।

भारतीय अध्यात्म की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें जीवन और अध्यात्म इन दोनों का ही इस प्रकार समन्वय किया गया है कि जिससे मनुष्य भौतिक जगत में रहकर भी उच्च जीवन हेतु अग्रसर हो सकता है। अध्यात्म की वेदी पर जीवन की बलि भी नहीं दी गई और जीवन के लिए अध्यात्म का तिरस्कार भी नहीं किया गया।

उच्च जीवन के लिए इन्हीं महान आदर्शों का समन्वय और सम्पूर्ण ज्ञान का निरूपण करने वाले ग्रन्थ ही उपनिषद हैं। जो सभी ग्रन्थों को नहीं पढ़ सकते अथवा उनके क्लिष्ट सिद्धान्तों को नहीं समझ सकते उनके लिए उपनिषद ही सर्वोपरि महत्व के हैं। जिनके अध्ययन से उन्हें भारतीय चिंतन की पराकाष्ठा का ज्ञान हो सकेगा। इसी महत्वपूर्ण एवं शाश्वत ज्ञाननिधि का थोड़ा सा परिचय देने के लिए ही इन तीन उपनिषदों का चयन किया गया है।

ज्ञान की राह दिखाने वाले

महापुरुषों के अनमोल वचन

संग्रह और सम्पादन : नन्दलाल दशोरा

जितना ही हम अध्ययन करते हैं उतना ही हमें अज्ञान का आभास होता जाता है। पढ़ना तो सभी जानते हैं लेकिन क्या पढ़ना चाहिए ये पुस्तक आपको यह सोचने पर मजबूर करेगी कि आपको क्या पढ़ना चाहिए।

प्रकाशक :

रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार-249401

पातंजल योग सूत्र : योगदर्शन

मूल, अनुवाद एवं व्याख्या : नन्दलाल दशोरा

पुस्तक की विषय सूची को चार भागों में विभाजित किया गया है—1. समाधिपाद 2. साधनपाद 3. विभूतिपाद 4. कैवल्यपाद। प्रथम भाग में—योगशास्त्र का आरम्भ और योग लक्षण चित्त की वृत्तियों के भेद और उनके लक्षण, चित्त वृत्तियों का निरोध, समाधि वर्णन, मन को स्थिर करने के उपाय, समाधि के भेद व उनका फल। द्वितीय भाग में—क्रियायोग का स्वरूप और फल, अविद्या आदि पाँच क्लेश, क्लेशों के नाश का उपाय, दृश्य और दृष्टा का स्वरूप, प्रकृति और पुरुष का संयोग तथा योग के पाँच अंगों का वर्णन है। तृतीय भाग में—धारणा, ध्यान व समाधि का वर्णन, संयम निरूपण, प्रकृति जनित पदार्थों का परिणाम, विवेक ज्ञान और कैवल्य। चतुर्थ भाग में—सिद्धि प्राप्ति के हेतु, संस्कार शून्यता, वासनायें प्रकट होना व उनका स्वरूप, गुणों का वर्णन, चित्त का वर्णन, धर्ममेध समाधि और कैवल्यावस्था।

इस प्रकार योग-वेदान्त के विषयों से भरपूर महर्षि पतंजलि कृत यह योग दर्शन भारतीय षट्दर्शन शास्त्रों में अनुपम कृति है। आप भी इसे पढ़ें और ज्ञान लाभ करें।

गायत्री अर्थ संग्रह : गायत्री चंद्रिका सहित

स्वामी सुरेश्वरानन्द जी द्वारा संग्रहीत

प्रस्तुत ग्रन्थ में गायत्री वेदसार निरूपण, गायत्री शब्द निरुक्ति, प्रणव विचार, याज्ञवल्क्य मुनि कृत गायत्री मन्त्र का अर्थ, भारद्वाज मुनि कृत व्याख्या, माधवाचार्य कृत व्याख्या, विद्यारण्य मुनि कृत व्याख्या, गायत्री जप साधन, गायत्री जप प्रकार निरूपण, आसन, जपमाला, पाणिमाला, कूर्मचक्र, होम विधि, मुद्रा विधि, मुद्रा लक्षण, कवच, ध्यान, पंचमुद्रा लक्षण, विसर्जन मुद्रा लक्षण, शाप विमोचन, गायत्री तर्पण विधि, सन्ध्या विधियाँ, गायत्री मन्त्र, विनियोग मन्त्र, गायत्री पूजन और पुरश्चरण आदि का अपूर्व संग्रह है।

प्रकाशक :

रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार-249401
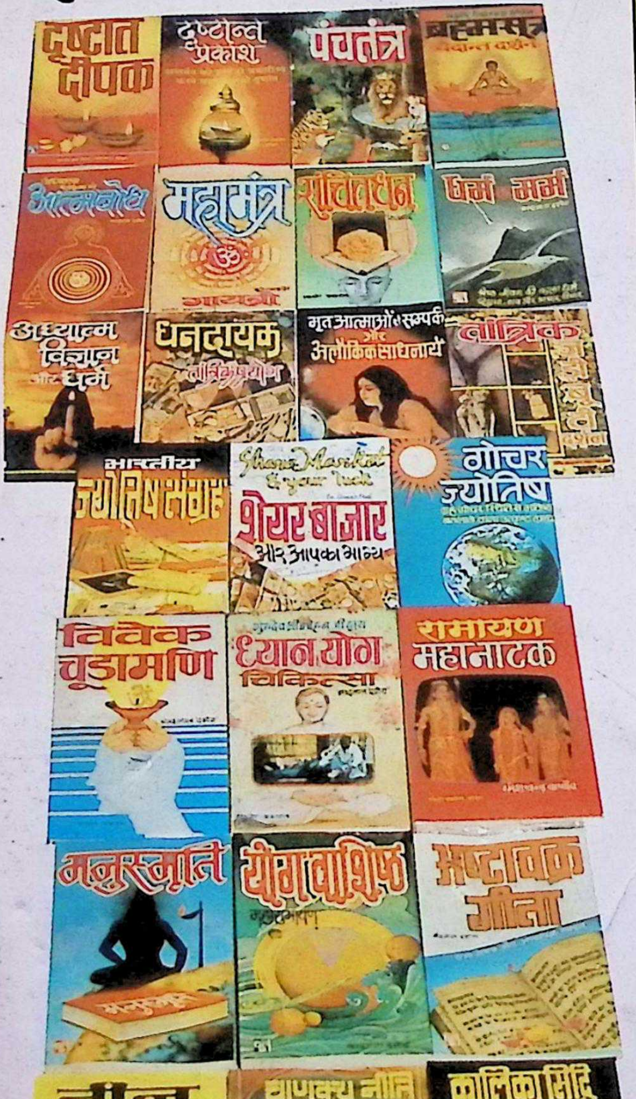
कुछ अन्य उपयोगी पुस्तकें